कल्याण

लालजी

वर्ष ४६] * * [अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,६६,५००

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, अप्रैल १९७२

चित्र-सूची

Free of Charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार। सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
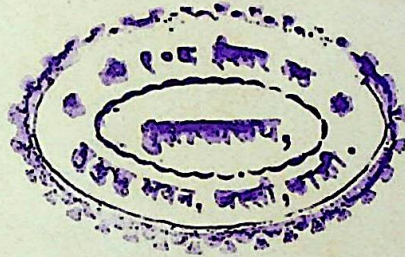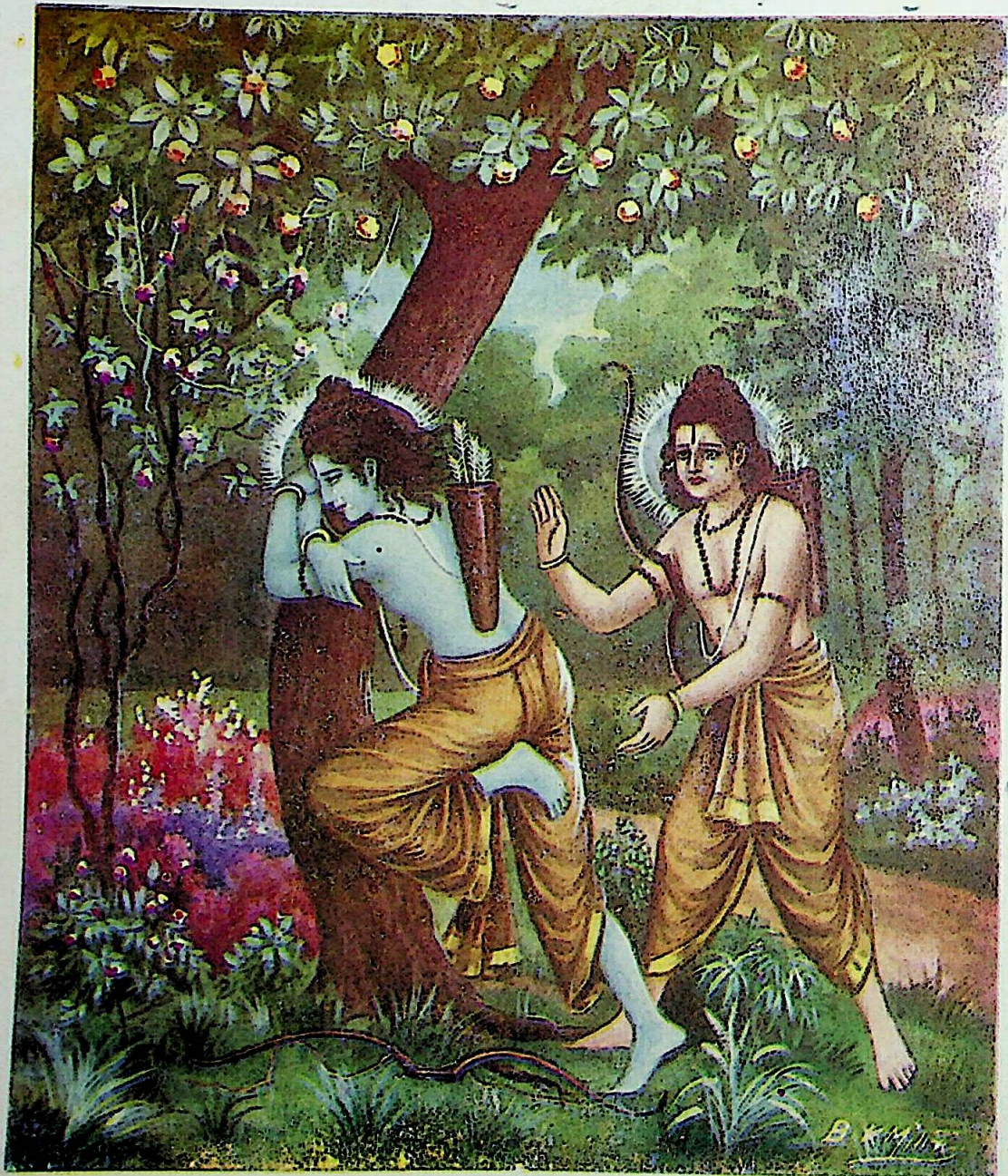
विरह-व्याकुल श्रीरामको लक्ष्मणकी सान्त्वना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र, ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, अप्रैल १९७२ { संख्या ४ पूर्ण संख्या ५४५

मेरा ध्येय स्वरूप

तदध्यास्तां तवैवाहमेतद्रूपं विचिन्तये ॥
धनुर्बाणधरं श्यामं जटावल्कलभूषितम् ।
अपीच्यवयसं सीतां विचिन्वन्तं सलक्ष्मणम् ॥
इदमेव सदा मे स्यान्मानसे रघुनन्दन ।

(अध्यात्मरामायण, अरण्य० ९ । ४८–५०)

'मैं तो आपके इस रामरूपका ही चिन्तन करूँगा । हे रघुनन्दन ! (मेरी यही प्रार्थना है कि) लक्ष्मणजीके सहित सीताके अन्वेषणमें रत आपका यह जटा-वल्कल-विभूषित धनुष-बाणधारी अति सुन्दर नवीन वयस्क श्याम शरीर सदा मेरे मनमें विराजमान रहे ।'
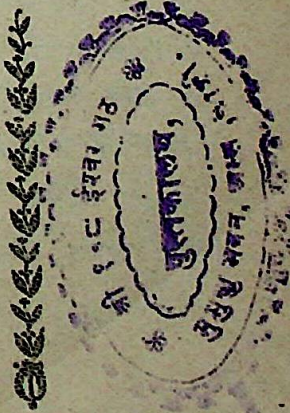
मानव-जीवनका लक्ष्य है—भगवत्प्राप्ति; अतः जो भगवत्प्राप्तिके साधनमें लगा है, वही 'मानव' है ।

जैसे व्यापारी अपना हिसाब-किताब देखता है कि क्या नफा हुआ, क्या घाटा हुआ, उसी प्रकार साधकको, जो भगवत्प्राप्तिके साधनमें लगा है, जो भगवान्‌की ओर चलने लगा है, जो भगवान्‌के मार्गपर प्रवृत्त हुआ है, अपनी स्थितिपर बराबर विचार करते रहना चाहिये कि हमारा मन भगवान्‌को पकड़ रहा है कि नहीं । दूसरे हमको देखकर क्या कहते हैं—महात्मा कहते हैं, भक्त कहते हैं या दम्भी कहते हैं, पाखण्डी कहते हैं—इसकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं है । हमें देखना है कि हम वास्तवमें क्या हैं, हम क्या बन रहे हैं ।

अपने आपको निरन्तर देखते रहना है कि वास्तवमें हमारी प्रगति हो रही है या नहीं । प्रगतिका मापदण्ड यह है कि हमारा मन जगत् तथा जगत्‌के पदार्थोंको भूल-कर भगवान्‌को कितना ग्रहण कर रहा है—वह कितना भगवदाकार हो रहा है । इस स्थितिको दूसरा व्यक्ति नहीं जान सकता, हम स्वयं ही उसे जान सकते हैं ।

जो भगवान्‌के मार्गमें चलता है, उसके चित्तमें स्वाभाविक ही उत्तरोत्तर शान्ति बढ़ती रहती है । स्वाभाविक ही उसके आनन्दकी वृद्धि होती रहती है । स्वाभाविक ही उसके दैवी सम्पत्तिके गुणोंका—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, प्रेम, कृपा, करुणा, त्याग आदिका विकास होने लगता है । जब इतनी चीजें अपने-आप होने लगें, तब समझना चाहिये कि हमारी उन्नति हो रही है—हम भगवान्‌की ओर अग्रसर हो रहे हैं ।

हमने नाम बदल लिया, स्थान बदल लिया, वेष बदल लिया, खान-पान बदल लिया । इससे हमारी स्थिति-में विशेष अन्तर नहीं आता । साधनाका प्रमुख सम्बन्ध तो आन्तर वृत्तिसे है, बाह्यसे कम । बाह्य परिस्थितियाँ साधनामें सहायक होती हैं, परंतु आन्तर वृत्ति ही साधनाका मूल है ।

आन्तर वृत्तिको बदलनेके दो उपाय हैं । पहला उपाय है—वृत्तिको संसारके पदार्थोंके रागसे हटाना; दूसरा उपाय है—वृत्तिको भगवान्‌के रागमें लगाना । 'राग' का अर्थ है—प्रेम, ममत्व, ऐसी वृत्ति जिसमें चित्त जाकर अटक जाय । इसी रागका दूसरा रूप आसक्ति है । अतएव जो राग, आसक्ति भोगोंमें हो रही है, उसको हटाना है । इसीको योगकी भाषामें 'वैराग्य' कहते हैं । भगवान्‌में वृत्तिको लगाना—भगवान्‌में राग उत्पन्न करना, आसक्ति उत्पन्न करना—इसका नाम है—'अभ्यास' । इन वैराग्य और अभ्यासपर ही साधनाका महल खड़ा होता है । इनके मर्मको ठीकसे समझकर जगत् तथा जगत्‌के पदार्थोंसे वृत्तिको हटाना और भगवान्‌में वृत्तिको स्थिर करना है । जिसने ऐसा कर लिया, वही मानव हो गया; जो इसके अभ्यासमें लगा है, वह मानव बननेकी प्रक्रियामें है और जो इसमें नहीं लगा है, वह तो मानव है ही नहीं, परम अभागा है—

सुनहु उमा ते लोग अभागी । हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी ॥

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

(पुराने सत्सङ्गसे)

जगत्‌में तीन गुण हैं—सत्त्व, रज एवं तम। प्रत्येक व्यक्तिमें ये गुण रहते हैं। हाँ, किसीमें सत्त्वकी प्रधानता रहती है, किसीमें रजकी और किसीमें तमकी। इसी प्रकार एक व्यक्तिके भाव भी सदा एक-से नहीं रहते। उसमें भी समय-समयपर कभी किसी गुणका प्राधान्य हो जाता है और कभी किसी गुणका। जब सत्त्वका प्राधान्य रहता है, उस समय व्यक्तिकी चेष्टाएँ शान्त, निर्मल, पवित्र रहती हैं; जिस समय रजोगुणका प्राधान्य रहता है, वही व्यक्ति उस समय चञ्चल एवं उग्र हो जाता है तथा जिस समय तमोगुणका प्राधान्य रहता है, उस समय वह प्रमादी, आलसी एवं पाप-परायण रहता है। गुणोंके इस तारतम्यको विचारकर हमें अपनी क्रियाओंपर नियन्त्रण करना चाहिये। जिस समय किसी विषयपर परस्पर विवाद होने लगे, उस समय हमें शान्त रहना चाहिये। अपनी बातपर दृढ़ रहते हुए भी उसपर अड़ना नहीं चाहिये। संसारमें अनेक मत-मतान्तर हैं और प्रत्येक अपने मतको सही समझता है। ऐसी स्थितिमें अपने मतपर ही दृढ़ रहकर अपनी बातकी ही पुष्टि करते नहीं रहना चाहिये। यदि कोई पूछे तो आप उसे प्रेमके साथ जो बात जँचे, वह कहिये; पर यदि वह उसे स्वीकार न करे तो हठ मत कीजिये कि वह आपकी बात मान ही ले। उस प्रसङ्गको वहीं समाप्त कर देना चाहिये, आगे नहीं बढ़ने देना चाहिये। आगे बढ़नेसे वृत्तियोंमें उत्तेजना आ सकती है। उत्तेजना आनेसे व्यवहार एवं साधना—दोनोंकी दृष्टिसे हानि होती है। उसका प्रभाव भी दूसरे व्यक्तियोंपर अच्छा नहीं पड़ता। अतएव अपने आदर्शको सबसे ऊँचा रखना चाहिये। शुकदेव, जनक आदि आदर्श पुरुषोंको आदर्श मानकर हमें उनकी तरह बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

× × × ×

भगवान् सब प्रकारसे सबका कल्याण ही कर रहे हैं, परंतु प्राणी उनकी कृपाका आदर न करके दुःख भोगता रहता है। इसी प्रकार कृपालु संत भी चेष्टा करते हैं; परंतु उनकी कृपाका लाभ वे ही उठा सकते हैं, जो उनकी कृपाके तत्त्वको समझते हैं। सब लोग कहाँ उठा सकते हैं। संतोंके लिये तो सभी समान हैं; उनके लिये न कोई अपना है और न कोई पराया।

× × × ×

भगवान्‌का निरन्तर स्मरण होना असम्भव बात नहीं है। तीन कारणोंसे स्मरण होता है—भय, आवश्यकता और प्रीति। कंसको भयसे स्मरण होता था। जलकी प्यास लगनेपर जलका स्मरण अपने-आप हो जाता है और प्रीति होनेपर गोप-गोपाङ्गनाओंकी भाँति निरन्तर-स्मृति स्वभाव बन जाती है। इसी प्रकारकी कोई चेष्टा होनी चाहिये। फिर अपने-आप स्मरण होने लगता है।

× × × ×

भगवान्‌का आश्रय ले लेनेके बाद सांसारिक प्रलोभनोंके भयके लिये कहीं स्थान नहीं है। भगवान्‌का भक्त संसारमें कैसे फँस सकता है। संसारमें तो वही फँसता है, जो संसारसे कुछ चाहता है। जो संसारसे कुछ नहीं चाहता, जिसका भगवान्‌में अनन्य विश्वास होता है, उसका भगवान्‌से सम्बन्ध हो जाता है। फिर भगवान्‌की स्मृति, उनके प्रेमकी जागृति अपने-आप होती है—इसमें कोई संदेह नहीं है। जो भगवान्‌का प्रेम और भगवान्‌का दर्शन चाहते हैं, उन्हें दूसरी सब चाह छोड़ देनी चाहिये। यह करनेमें सब स्वतन्त्र हैं। इसमें मेरी या अन्य किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् सबके साथ हैं, वे हर समय सबपर कृपा कर रहे हैं। उसका सबको आदर करना चाहिये।

× × × ×

ईश्वरके देखते जीव पापरत क्यों हैं ? उन्हें छुटकारा

संत क्यों नहीं दिखाते ? यह प्रश्न बहुधा किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि जीव भगवत्कृपासे प्राप्त ज्ञानके अनुसार न चलनेके कारण पापमें लगता है। यह उसका प्रमाद है। साधु पुरुष भी ऐसे मनुष्यको पापसे नहीं बचा सकते, जबतक कि वह उनके कथनके अनुसार नहीं चले।

× × × ×

जप-संख्यासे भगवान् उसको मिलते हैं, जिसको भगवान्से मिलना है अर्थात् भगवान्के अतिरिक्त अन्य किसीसे मिलनेकी जिसको इच्छा नहीं है। प्रेम भी इसीको कहते हैं। भगवान्से मिलनेकी सच्ची लालसा तभी उत्पन्न होती है, जब साधकका उनकी सत्ता और महत्तापर पूर्ण विश्वास हो जाता है।

× × × ×

भजन करना ही कर्तव्य है—यह बात यदि हमें ठीक-ठीक समझमें आ गयी होती तो संसारके साथ व्यवहार कैसे करें, यह हमें सीखना नहीं पड़ता; हमारे जीवनसे लोग सीखते। संसारको श्रीकृष्णका लीलाक्षेत्र समझकर सर्वहितकारी भावसे सबके साथ प्रेम करनेसे भगवान्में प्रेम बढ़ सकता है; क्योंकि सब भगवान्के हैं और सबमें भगवान् हैं। यह बात भगवान्की कृपासे ही समझमें आती है।

जबतक आपको जगत् विकृतरूपमें दिखायी देता है, तबतक न तो आपकी उसमें भगवत्-दृष्टि है और न सच्चा वैराग्य ही। जो प्रेम-दृष्टि और वैराग्य-दृष्टि—दोनोंमेंसे किसी भी एकको पा लेता है, उसमें दूसरी अपने-आप आ जाती है। तर्कसे तो कोई-सी भी नहीं मिलती। वैराग्यसे जिसको विक्षेप होता है, वह वैराग्यका अर्थ नहीं समझा होगा। वैराग्यका अर्थ है—'विषयासक्तिका अभाव।' वैराग्यसे ही भगवत्प्रेम पुष्ट होता है, बिना वैराग्यके नहीं। भोगासक्ति रहते हुए मनुष्य प्रेमका तत्त्व कैसे समझे।

जो बड़े लोग पापमें लिप्त होते हैं, उनको पाप नहीं लगता, यह कौन कहता है ? कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो, सबको पापका फल भोगना पड़ेगा।

× × × ×

जो पापसे बच पाता है, उसे अपने बलका अभिमान न करके भगवान्की कृपा माननी चाहिये। परंतु यह कदापि नहीं मानना चाहिये कि जो पापसे बचना चाहे, वह बच नहीं सकता।

× × × ×

सत्सङ्गमें रहनेसे मन भगवान्में अधिक लगता है, यह ठीक है। वास्तवमें तो मनके भगवान्में लगे रहनेका ही नाम 'सत्सङ्ग' है। पर आप 'सङ्ग' अर्थात् प्रेम तो करें असत्-विषयभोगोंसे तथा मन लगाना आवश्यक मानें भगवान्में, तब वह कैसे लगे।

भक्त और भगवान्की एकात्मता

हम उनके, वे सदा हमारे परमानन्द-सुधा-सागर।
सदा हृदयमें रखते हमको परम मधुर वे नटनागर॥
रहते सदा हमारे उरमें, करते विविध स्वयं नित खेल।
हो कुछ भी, कैसे भी जगमें, उनका हमसे रहता मेल॥
देते रहते वे हमको निज सहज अमित आनन्द उदार।
आ सकती विषादकी छाया कभी न कुछ भी, किसी प्रकार॥
दुःखयोनि भोगोंका कुछ भी रहा न जीवनमें संश्लेष।
भगवद्रससे रहित तनिक भी बचा न देश-काल अवशेष॥

—भाईजी

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत वचन]

शरीर क्षणभङ्गुर है। इसलिये इस शरीर तथा शरीरसे सम्बन्धित प्राणी-पदार्थोंके प्रति ममता-आसक्ति रखना तथा इन प्राणी-पदार्थोंसे सुखकी आशा रखना सर्वथा मूर्खता है। यह संसार 'दुःखालय' ही है। इसमें आगे-पीछे सर्वत्र दुःख-ही-दुःख भरा पड़ा है। अतएव यहाँ सुख खोजनेपर निराशा ही होती है। पर यह दुःखालय अनित्य संसार परम सुखस्वरूप सच्चिदानन्दघन भगवान्से भरा है। उन भगवान्में मन लगानेपर—भोगोंसे सुखकी आशा छोड़कर, भोगोंसे आस्था हटाकर भगवान्में ही आस्था रखनेपर सदा, सर्वत्र सुखकी ही उपलब्धि होती है। भोगोंपर आस्था और भोगोंसे सुखकी आशा ही महामोह है, इसीसे मनुष्य रात-दिन—कहीं-कहीं कर्तव्य, धर्म तथा भगवान्के नामपर भी भोग-सेवनमें लगा रहता है। यह बड़ा प्रमाद है। इस मोह तथा प्रमादसे बचकर—इस मोहको भङ्ग करके श्रीभगवान्के परम मङ्गलमय चरण-कमलोंमें पवित्र निःस्वार्थ प्रेम करना ही मनुष्य-जीवनका परम ध्येय है। जो ऐसा सहज प्रेम करता है, उसके हृदयमें भगवान् अपना घर बनाकर सदाके लिये बस जाते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु। बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

(मानस २। १३१)

जो सब ओरसे ममता हटाकर श्रीभगवान्के चरण-कमलोंमें ही सारा ममत्व जोड़ देता है, उसे भगवान् लोभीके धनकी भाँति अपने हृदयमें बसा लेते हैं—

अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

(मानस ५। ४७। ३)

× × × × ×

जीवनमें यही होना चाहिये, तभी मानव-जीवनकी सफलता है—

(१) भगवान्में प्रेममूलक पवित्र अनन्य ममता। (२) भगवान्का मनसे नित्य स्मरण। (३) वाणीसे भगवान्के नामका जप। (४) शरीरसे जो कुछ कार्य किया जाय, सबमें भगवत्सेवाकी भावना।

× × × × ×

असली स्वस्थता नित्य भगवान्में स्थिति होनेमें है। भगवान्के साथ नित्य एकीभाव रहे—यह नित्य आत्म-परमात्म-मिलन ही वस्तुतः 'स्वस्थता' है। जबतक मनमें संसार है—भोगासक्ति है, तबतक भगवत्प्रेम नहीं प्राप्त होता। भगवत्प्रेम तथा भोगासक्तिका परस्पर बड़ा विरोध है। भोगासक्त मनुष्य भोगोंकी लाभ-हानिको ही यथार्थ लाभ-हानि मानता है तथा अपने प्रत्येक कार्यको इसी कसौटीपर कसता है। भगवत्प्रेमीकी आँखें दूसरी होती हैं। वह प्रत्येक कार्यको भगवत्प्रीतिकी कसौटीपर कसता है। इसीसे भगवत्प्रेमीको संसारके शरीर, मान, बड़ाई, धन आदिके अभावसे दुःखकी अनुभूति नहीं होती। वह नित्य भगवत्प्रेम-रस-सुधा-सागरमें निमग्न रहता है। वह अपनी प्रेममयी वृत्तिसे संसारके महान् दुःखकी स्थितिमें भी उससे ऊपर उठा हुआ जिस सुखकी अनुभूति करता है, भोगमयी वृत्तिवाला पुरुष उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता।

× × × × ×

संत क्यों नहीं दिखाते? अनुकूलता या प्रतिकूलता—दोनोंमें ही भगवान्‌की कृपाके दर्शन करना—दर्शन न हो तो विश्वास अवश्य करना। भगवान्‌को नित्य अपने साथ समझना। भगवान्‌की नित्य स्मृति तथा उनकी समीपताकी अनुभूति सदा बनी रहे—बीमारी आदिमें विशेषरूपसे।

वे हमारे इतने अपने हैं कि उन्हें हमारा जरा भी दुःख सहन नहीं होता। वे पूर्ण परमात्मा होकर भी भक्त-प्रेम-वश हैं। उनके कोमल स्वभावकी बड़ी विचित्रता है। उनके शील-स्वभावको देखकर अहैतुकी प्रीति करनी ही पड़ती है। जो नहीं करता, उसका जगत्‌में जन्म लेना ही व्यर्थ है—

तुलसी राम-सनेह-सील लखि, जौं न भगति उर आई।
तौ तोहि जनमि जाय जननी जड़ तन-तरुनता गवाँई॥

(विनय० १६४। ७)

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(भागवत १। ७। १०)

× × × × ×

तुमने लिखा—'संतोंका हृदय कोमल होता है—नवनीतसे भी अधिक कोमल; क्योंकि वह दूसरोंके तापसे पिघल जाता है। वे बड़ी दया करते हैं।' सो प्रथम तो यह संतोंकी बात है, मेरे-जैसे आदमीकी बात नहीं; दूसरे, दया दूसरोंपर हुआ करती है, अपनेपर नहीं। दूसरोंके तापसे हृदय पिघलता है, अपने तापसे नहीं। अपने लिये तो संत वज्रसे भी कठोर होते हैं और दुःखमें भी प्रसन्न रहा करते हैं। पर जहाँ आत्मीयता—अपनापन है, वहाँ 'स्व' की ही अनुभूति है। वहाँ दयाका प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो दुःख-सुख सब अपना ही होता है, अपनेमें ही होता है। रोना-हँसना सब अपनी ही अनुभूति होती है। मनका यह नित्य संनिधान ही असली मूल्यवान् वस्तु है। तन-वचनका कोई महत्त्व नहीं, उनमें तो दम्भ तथा दिखावा भी हो सकता है; पर मनका अनुभव मनमें ही रहता है, उसमें दिखावा नहीं रहता। इसीसे उसका महान् मूल्य होता है। पर उसका वह मूल्य भी अपनी ही चीज है। मूल्याङ्कन तो बिकनेवाली वस्तुका होता है। यहाँ तो खरीद-बिक्री, मोल-तोल है ही नहीं।

चढ़त न चातक चित कबहुँ, प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधिकी, ताते नाप न जोख॥

× × × ×

भगवान्‌को सारा जगत् ही परमप्रिय है, पर वे अम्बरीषसे कहते हैं—'भक्तोंके मैं पराधीन हूँ।' उद्धवसे कहते हैं—'तुम मुझे जितने प्रिय हो, उतने प्रिय शंकर, ब्रह्मा और लक्ष्मी तो क्या, मेरी आत्मा भी नहीं है।' भगवान् सबमें समान हैं; पर उनके प्रिय भक्त तो निरन्तर उनमें घुले-मिले रहते हैं। वे उनसे कभी अलग होते ही नहीं—'मयि ते तेषु चाप्यहम्'। भगवान्‌को हम भले ही भूल जायँ, भगवान् हमें भूलना नहीं जानते; वे तो भक्तको अपने हृदयमें ही नित्य बसाये रहते हैं लोभीके धनकी तरह—'लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें'।

संसार क्षणभङ्गुर है, विनाशी है, परिवर्तनशील है। इसका सम्बन्ध तो मिथ्या है और कल्पित है। परंतु भगवान्‌से हमारा नित्य सम्बन्ध है, वह कभी भी विच्छिन्न नहीं हो सकता। वे हमारे हैं—हमारे ही

हैं; हम उनके हैं, उनके ही हैं—यह ध्रुव सत्य है। सदा-सर्वदा इसकी अनुभूति होती रहनी चाहिये। वे हमारी चीज हैं। हम अपनेको उनसे दूर मान लें तो वे भले ही दूर दीखें; पर वे तो सदा ही हमारे समीप, अत्यन्त निकट, नितान्त अपने ही रहेंगे—इसमें जरा भी संदेह नहीं है। बस, दो बातें बनी रहें—

(१)—भगवान्‌की अखण्ड स्मृति।

(२)—संसारके प्राणी-पदार्थोंसे अत्यन्त उपरति।

× × × × ×

भगवान् श्यामसुन्दर नित्य-निरन्तर हर हालतमें, हर जगह हमारे साथ रहते हैं—मनकी यह अनुभूति प्रत्यक्षमें भी मिलनका अनुभव करा देती है। मनकी अत्यन्त संलग्नता होनेपर ऐसा अनुभव होता है। श्यामसुन्दरके साथ भक्तोंका इसी प्रकार नित्य मिलन होता रहता है। फिर भगवान् तो नित्य, सत्य, सर्वत्र, सर्वदा स्थित हैं ही। अतएव मनसे होनेवाली काल्पनिक अनुभूति यहाँ सत्य हो जाती है; क्योंकि भगवान् कल्पनामें नहीं हैं, वे तो हैं ही। जहाँ, जब, जिस रूपमें हम उन्हें देखना चाहें, वहाँ, उस समय, उसी रूपमें ही वे हमें दीख पड़ते हैं। आँखोंसे दर्शन—सौन्दर्य-माधुर्यकी मधुरतम झाँकी, कानोंसे मधुर मुरली या नूपुर-ध्वनि—उनके श्रीमुखसे उच्चरित मधुर शब्द, शरीरसे उनका मधुर स्पर्श—उनके चरणोंका स्पर्श, जिह्वासे उनके प्रसादका रस-सेवन, नासिकासे उनके मधुर अङ्ग-सुगन्धका प्रत्यक्ष अनुभव—ये सर्वत्र, सभी समय हमारी इच्छाके अनुसार हो सकते हैं और निश्चय ही होते हैं।

× × × × ×

संसारका स्वरूप ही संयोग-वियोगात्मक है। यहाँ सभी कुछ अनित्य है। फिर स्थूलशरीर तो क्षणभङ्गुर है ही। इसका मिलना-बिछुड़ना कोई महत्त्व नहीं रखता। असली मिलन मनका होता है, सो मन निरन्तर भगवान्‌में लगाये रखनेका प्रयत्न होना चाहिये। भगवान् सहजमें दर्शन नहीं देते; कभी सामने आते हैं तो फिर तुरंत ही भाग जाते हैं। इससे प्रेमी लोग प्रेमकी मधुर भाषामें उन्हें 'छलिया' कहते हैं, 'चालाक' और 'कठोर' कहते हैं; परंतु सचमुच भगवान्‌की यह चालाकी, छलियापन तथा कठोरता प्रेमी भक्तके प्रेमरसको बढ़ाने तथा उसका मधुर आस्वादन करानेके लिये ही होती है। ये भी पवित्र प्रेमके ही अङ्ग हैं। चाहे जितनी ऊपरी कठोरता हो, वे निरन्तर प्रेमीके हृदयमें बसनेको बाध्य होते हैं। उसे छोड़कर कभी भाग ही नहीं सकते। इसीसे भक्त सूरदासने उन्हें ललकारा था—

हाथ छुड़ाए जात हौ, निबल जानि कै मोय। हिरदै तें जब जाहुगें, सबल बदौंगौ तोय॥

इससे भी एक और बड़ी बात करनेको प्रेमास्पद भगवान् बाध्य होते हैं—वे स्वयं प्रेमी बनकर प्रेमीको प्रेमास्पद बना लेते हैं और निरन्तर उसे अपने हृदयमें बसाये रहते हैं और प्रतिक्षण उसको मन-ही-मन देखते, उससे लीला करते रहते हैं। उसके बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता। वे उसमें समाये रहते हैं—उसको अपनेमें समाया रखते हैं। 'मयि ते तेषु चाप्यहम्।'—वे मुझमें रहते हैं, मैं उनमें रहता हूँ।' यह उनकी प्रेमपरवशता है, उसे मिटानेकी सामर्थ्य उन सर्वसमर्थमें नहीं है; क्योंकि वे प्रेमस्वरूप हैं। वे यदि अपने प्रेमीका कोई अनुकूल कार्य करते हैं तो क्या वे उसपर कोई अहसान करते हैं? वे स्वयं उसमें सुखका अनुभव करते हैं। उनके प्रेम-मधुर स्वभावकी बड़ी ही विचित्र महिमा है। पर इससे ऊँची बात एक यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस स्वभावमें भी अपनी महिमा नहीं मानते। वे कहते हैं—'हे प्राणाधिके राधिके! यह भी तुम्हारे ही प्रेमकी महिमा है, जो मेरे स्वभावमें स्फुरित हो जाती है।'

× × × × ×

भगवान् अपने प्रेमीके प्रति क्या भाव रखते हैं, इसको वे ही जानते हैं, हम बता नहीं सकते—वैसी कल्पना भी नहीं कर सकते; क्योंकि भगवान् निष्काम हैं, पूर्णकाम हैं, सच्चिदानन्दघन परिपूर्णतम हैं। उनमें प्रेमीके प्रति प्रेमभावको लेकर होनेवाला उद्वेग या मिलन-लालसाका भाव समझमें नहीं आता। परंतु बात यह है कि वे अपने प्रेमीके पास वैसे तो नित्य रहते ही हैं—कभी उससे क्षणभरको भी अलग नहीं होते—तथापि वे छटपटाते रहते हैं। उनके मनमें जो पवित्र भगवद्रूप राग उत्पन्न होकर प्रेमीके प्रति उनके मनको आकर्षित करता है, उससे होनेवाली विकलताका अनुमान हम नहीं लगा सकते। सर्वशक्तिमान् होते हुए भी, उद्विग्न तथा विकल होकर भी मिल क्यों नहीं पाते—यह विलक्षण बात है। उनकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता आदि स्वरूपशक्तियाँ यहाँ प्रेमराज्यमें कुण्ठित हो जाती हैं और उनका अन्तर्हृदय प्रेमप्लावित होकर प्रेमीकी ओर बहता हुआ भी प्रेमीके मनकी आत्यन्तिक प्रेम-मिलन-लालसाजनित महान् पीड़ाकी प्रतीक्षा करता है। इस प्रतीक्षामें ही वे मिल नहीं पाते—जितनी ही देर होती है—उतनी ही उनकी पवित्र भगवद्रूपा प्रेममयी विकलता और उद्विग्नता बढ़ती रहती है और उससे उनके अपने मनमें तथा उसीकी शक्तिसे प्रेमीके मनमें भी वियोगसे होनेवाली मधुरातिमधुर स्मृति एक अपूर्व आनन्दका सृजन तथा अनुभव कराती रहती है और यह आनन्द बढ़ता ही रहता है। इसीसे वे कहते हैं—

राधा ! तेरे दर्शनको मैं उत्सुक रहता सदा अधीर।
कोई नहीं जान सकता यह मेरे मनकी भीषण पीर॥
पीड़ा वह अति व्यथित बनाती, व्याकुल करती अति स्वच्छन्द।
सीमासे अतीत तव स्मृतिसे होता उदय अमित आनन्द॥
वह आनन्द नित्य पल-पल नव पीड़ाका उद्भव करता।
पीड़ासे फिर स्मृति बढ़ती, फिर नवानन्द मनमें भरता॥
यों ही पीड़ा-दुःख-स्मृति-सुखका सागर नित लहराता।
उसमें सहज प्रिये ! मैं रहता सतत डूबता-उतराता॥
बीच-बीचमें मिलनाकाङ्क्षा बढ़, जब उग्ररूप धरती।
तब हो उदित रूप-माधुरि मधु मनके सारे दुख हरती॥

इस प्रकार परम प्रेमास्पद प्रभु अपने प्रेमीसे मिलनेके लिये व्याकुल प्रयास करते रहते हैं। प्रभुकी इस प्रेमाधीनताका स्मरण आते ही हृदयमें एक विलक्षण आकर्षण प्रभुके प्रति होता है। कहाँ हम नगण्य दीन-हीन जगत्के जन्तु और कहाँ अखिलब्रह्माण्डाधीश्वर सर्वगुण-गण-वारिधि सर्वातीत परमैश्वर्यसम्पूर्ण प्रभु ! पर वे जहाँ, जब, निर्मल प्रेम देखते हैं, तब वहाँ सारे ऐश्वर्यज्ञानको भूलकर प्रेमाधीन होकर प्रेमीके लिये व्यथित—विकल हो जाते हैं।

× × × ×

मैं हृदयसे क्या चाहता हूँ—तुम जानते हो; वह है—'तुम्हारा एक-एक पल तथा एक-एक श्वास श्रीभगवान्की स्मृतिमें बीते। तुम्हारा जीवन परम पवित्र, परम मङ्गलमय, परम आनन्दमय हो, वह संसारसे ऊपर उठकर भगवान्के साथ नित्य मिला रहे। संसारके भोग तथा सांसारिक अनुकूलता-प्रतिकूलताका तुमपर जरा भी असर न हो। संसारकी कोई भी आसक्ति और चाह तुम्हारे मनमें न रह जाय। तुम सदा-सर्वदा श्रीभगवान्के परमानन्दमें निमग्न होकर परम सुखी रहो। तुमने अपने स्वभावकी

बात लिखी, सो भगवान्‌की कृपासे स्वभावके दोषोंका नष्ट हो जाना कौन बड़ी बात है। उनकी कृपासे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। दोष दीखनेकी बात लिखी, सो भगवान्‌में तो कभी किसी दोषकी कल्पना ही नहीं है। उनमें जो कुछ है, सब भगवान्-ही-भगवान् है।

मुझमें कहीं किसीको दोष दिखायी दे तो वह ठीक ही है। मैं अपनी ओर देखता हूँ तो मालूम होता है—दोषोंसे भरा हुआ हूँ। जिनको मुझमें गुण दीखते हैं—या दोष नहीं दीखते—यह तो उनकी राग या प्रेममयी आँखोंका गुण है, मेरा गुण नहीं। मुझमें तो इतने दोष हैं कि उतने कोई देख ही नहीं सकता।

(पुराने पत्रोंसे संगृहीत)

श्रीश्रीराम-नाम-माहात्म्य

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ महाराज)

[श्रीरामाङ्कके पृष्ठ २४ से आगे]

ब्रह्मपुराण—

प्रमादादपि संस्पृष्टो यथानलकणो दहेत्।
तथौष्ठपुटसंस्पृष्टं रामनाम दहेदघम्॥

विष्णुपुराण—

प्रसङ्गेनापि श्रीरामनाम नित्यं वदन्ति ये।
ते कृतार्था मुनिश्रेष्ठ सर्वदोषाद् गताः सदा॥

तत्रैव ब्रह्मोक्तिः—

अहं च शंकरो विष्णुस्तथा सर्वे दिवौकसः।
रामनामप्रभावेण सम्प्राप्ताः सिद्धिमुत्तमाम्॥
सा जिह्वा रघुनाथस्य नामकीर्तनमादरात्।
करोति विपरीता या फणिनो रसना समा॥
रामेति नाम यच्छ्रोत्रे विश्रम्भाज्जायते यदि।
करोति तत्पापदाहं तूलं वह्निकणो यथा॥

'जैसे प्रमाद (भूल) से भी स्पर्श करनेपर आगकी चिनगारी जला देती है, उसी प्रकार केवल ओष्ठ-पुटके साथ स्पर्श होनेपर रामनाम पापको दग्ध कर देता है।'

'हे मुनिश्रेष्ठ ! जो नित्य प्रसङ्गवश भी श्रीरामनामका उच्चारण करते हैं, वे सदा सब दोषोंसे मुक्त होकर कृतार्थ हो जाते हैं।'

ब्रह्माजी कहते हैं—

'मैं, शंकर, विष्णु और सारे देवगणने रामनामके प्रभावसे श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त की है।'

'जो जिह्वा आदरपूर्वक रघुनाथका नाम-कीर्तन करती है, वही यथार्थ जिह्वा है; उसके विपरीत जो जिह्वा नाम-कीर्तन नहीं करती, वह सर्पकी रसनाके समान है।'

'जैसे अग्निकी चिनगारी रुईको जला देती है, उसी प्रकार जिसके कानमें राम-नाम यदि अनायास भी प्रविष्ट हो जाता है तो उसके सारे पापोंको समूल दग्ध कर देता है।'

विष्णोरेकैकनाम्नो हि सर्ववेदाधिकं फलम्।
तादृङ्नामसहस्रेण रामनाम समं मतम्॥
श्रीरामेति परं नाम रामस्यैव सनातनम्।
सहस्रनामसदृशं विष्णोर्नारायणस्य च॥
त्रिवर्णं रामनामेदं वर्णानां कारणं परम्।
ये स्मरन्ति सदा भक्त्या ते पूज्या भुवनत्रये॥
अविकारी विकारी वा सर्वदोषैकभाजनः।
परमेशपदं याति रामनामानुकीर्तनात्॥

'विष्णुका एक-एक नाम सब वेदोंसे अधिक फल प्रदान करनेवाला है। वैसे सहस्र नामोंके सदृश एक रामनाम है।

'श्रीराम-नाम श्रीरामका सनातन श्रेष्ठ नाम है। यह विष्णु और नारायणके सहस्रनामके तुल्य है।

'यह त्रिवर्ण रामनाम सर्ववर्णोंका परम कारण है। जो भक्तिपूर्वक इसका सदा स्मरण करते हैं, वे त्रिभुवनमें पूज्य हो जाते हैं।

'विकारी हो अथवा अविकारी, नहीं-नहीं, सब दोषोंसे युक्त पुरुष भी रामनामका कीर्तन करनेसे परमेश्वरके परम पदको प्राप्त होता है।'

पद्मपुराण—

जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमन्त्रांश्च पार्वति ।
तस्मात् कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते ॥
प्राणप्रयाणसमये रामनाम सकृत्स्मरेत् ।
स भित्त्वा मण्डलं भानोः परं धामाभिगच्छति ॥

तत्रैव—

विष्णुनारायणादीनि नामानि चामितान्यपि ।
तानि सर्वाणि देवर्षे जातानि रामनामतः ॥

तत्रैव—

मङ्गलानि गृहे तस्य सौभाग्यानि च भारत ।
अहोरात्रं च येनोक्तं राम इत्यक्षरद्वयम् ॥

तत्रैव—

गङ्गा सरस्वती रेवा यमुना सिन्धुपुष्करे ।
केदारे तूदकं पीतं राम इत्यक्षरद्वयम् ॥

तत्रैव—

तेन दत्तं हुतं तप्तं सदा विष्णुः समर्चितः ।
जिह्वाग्रे वर्त्तते यस्य राम इत्यक्षरद्वयम् ॥

'हे पार्वति ! समस्त वेदोंका पाठ और सभी मन्त्रोंका जप करनेवालेको भी उससे कोटिगुना पुण्य रामनामसे ही प्राप्त हो जाता है। जो मनुष्य प्राणोंके निकलनेके समय एक बार भी रामनामका स्मरण कर लेता है, वह सूर्यमण्डलको भेदकर परमधामको जाता है।'

'हे देवर्षे ! विष्णु-नारायण आदि भगवान्‌के अनन्त नाम हैं, ये सब नाम रामनामसे उत्पन्न हुए हैं।'

''हे भारत ! जो मनुष्य रात-दिन 'राम'—इन दो अक्षरोंका उच्चारण करता है, उसके घरमें सब प्रकारके मङ्गल तथा सारे सौभाग्य उपस्थित होते हैं।''

''जिसने 'राम'—इन दो अक्षरोंका जप किया, उसने गङ्गा, सरस्वती, रेवा, यमुना एवं सिन्धु नदियों, पुष्कर तीर्थ तथा केदारक्षेत्रके पवित्र जलका पान कर लिया।''

''जिसके जिह्वाग्रपर 'राम'—ये दो अक्षर निरन्तर वर्तमान रहते हैं, उसने नित्य दान, होम, तपस्या तथा विष्णुकी अर्चना कर ली।''

तत्रैव—

अहो भाग्यमहो भाग्यमहो भाग्यं पुनः पुनः ।
येषां श्रीमद्रघूत्तमनाम्नि संजायते रतिः ॥
रामनामांशतो जाता ब्रह्माण्डाः कोटिकोटिशः ।
रामनाम्नि परे धाम्नि संस्थिताः स्वामिभिः सह ॥
स्वाभाविकी तथा ज्ञानक्रियाद्याः शक्तयः शुभाः ।
रामनामांशतो जाताः सर्वलोकेषु पूजिताः ॥
विष्णुनारायणादीनि नामानि चामितान्यपि ।
तानि सर्वाणि देवर्षे जातानि रामनामतः ॥
सर्वेषां हरिनाम्नां हि वैभवं रामनामतः ।
ज्ञातं मया विशेषेण तस्माच्छ्रीनाम संजप ॥
रुद्रो दिशति यन्मन्त्रं यस्य नाम महद् यशः ।
यस्य नास्त्युपमा क्वापि तं रामं राघवं भजे ॥
सर्वपापविनिर्मुक्ता नाममात्रैकजल्पकाः ।
जानकीवल्लभस्यासि धाम्नि गच्छन्ति सादरम् ॥
दुर्लभं योगिनां नित्यं स्थानं साकेतसंज्ञकम् ।
सुखपूर्वं लभेत् तत्तु नामसंराधनात् प्रिये ॥

'जिनका श्रीरघुनाथजीके नाममें अनुराग उत्पन्न हो जाता है, उनका भाग्य प्रशंसनीय है, वे अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं, उनके समान भाग्यवान् कोई नहीं है।

'कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड रामनामके अंशसे उत्पन्न हुए हैं। रामनामरूप परमधाममें उसी नामके अंशसे उत्पन्न एवं सर्वलोकपूजित ज्ञान, क्रिया आदि भगवान्‌की स्वरूपभूता मङ्गलमयी शक्तियाँ अपने स्वामियोंके साथ विराजमान हैं। देवर्षे ! भगवान्‌के विष्णु, नारायण आदि अन्य असंख्य नाम भी सब-के-सब राम-नामसे ही प्रादुर्भूत हुए हैं। (भगवान् शंकर कहते हैं—) समस्त हरिनामोंकी सामर्थ्य निश्चयपूर्वक रामनामसे है, यह मैं विशेषरूपसे जानता हूँ; इसीलिये श्रीरामनामका ही जप उत्तम रीतिसे करो।

'रुद्र जिनके मन्त्रका (काशीमें) उपदेश करते हैं, जिनका नाम महान् यशस्वी है तथा जिनकी उपमा कहीं नहीं है, उन्हीं राघव रामका मैं भजन करता हूँ।

'केवल एकमात्र नामजप करनेवाला मनुष्य सारे पापोंसे विशेषरूपसे मुक्त होकर श्रीजानकीवल्लभके नित्य साकेत-धाममें आदरपूर्वक गमन करते हैं।

'प्रिये ! नित्य साकेत-धाम योगियोंके लिये भी दुर्लभ है। भक्तजन नामकी आराधनाके फलस्वरूप उसे सुखपूर्वक प्राप्त कर लेते हैं।'

पद्मपुराणके क्रियायोगसारमें—

रामेति सततं नाम पठ्यते सुन्दराक्षरम् ।
रामनाम परं ब्रह्म सर्ववेदाधिकं फलम् ॥
समस्तपातकध्वंसि स शुकस्तत्तदापठत् ।
नामोच्चारणमात्रेण तयोश्च शुकवेदयोः ॥

विनष्टमभवत् पापं सर्वमेव सुदारुणम् ।
रामनामप्रभावेण तौ गतौ धाम सत्वरम् ॥
तुलसी मस्तके यस्य शिला हृदि मनोहरा ।
मुखे कर्णेऽथवा रामनाम मुक्तस्तदैव हि ॥
दंष्ट्रिदंष्ट्राहतो म्लेच्छो हरामेति पुनः पुनः ।
उक्त्वापि मुक्तिमाप्नोति किं पुनः श्रद्धया गृणन् ॥
भवबन्धच्छिदे तस्यै स्पृहयामि न मुक्तये ।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते ॥

'रामनाम परब्रह्मरूप है, सम्पूर्ण वेदोंसे भी अधिक फल देनेवाला है, एक शुकने सुन्दर अक्षरोंसे युक्त तथा समस्त पापों-का नाश करनेवाले रामनामका रटन किया । इस नामके उच्चारणमात्रसे ही उस शुकके और उसे पालनेवाली वेश्याके सारे भयंकर पाप नष्ट हो गये । रामनामके प्रभावसे वे दोनों शीघ्र परमधामको चले गये ।

'जिसके मस्तकपर तुलसी, हृदयपर मनोहर शालग्राम-शिला तथा मुखमें अथवा कानमें रामनाम हो, वह तत्काल मुक्त हो जाता है । शूकरके दन्तके आघातसे बारंबार 'हराम' कहनेपर भी मृत म्लेच्छ मुक्तिको प्राप्त हुआ था । फिर श्रद्धापूर्वक नाम लेनेसे मुक्ति प्राप्त हो तो इसमें संदेह ही क्या है ?

'तुम प्रभु हो, मैं दास हूँ'—यह सम्बन्ध जहाँ विलुप्त हो जाता है, भव-बन्धनको काटनेवाली उस मुक्तिकी मैं इच्छा नहीं करता ।'

पद्मपुराण, उत्तरखण्डमें—

मुमूर्षोर्मणिकर्ण्यां तु अर्द्धोदकनिवासिनः ।
अहं दिशामि ते मन्त्रं तारकं ब्रह्मवाचकम् ॥
ॐ श्रीराम राम रामेत्येतत्तारकमुच्यते ।
अतस्त्वं जानकीनाथ परं ब्रह्म विनिश्चितम् ॥
रामान्नास्ति परो देवो रामान्नास्ति परं व्रतम् ।
नहि रामात्परो योगो नहि रामात्परो मखः ॥
एको देवो रामचन्द्रो व्रतमेकं तदर्चनम् ।
मन्त्रोऽप्येकश्च तन्नाम शास्त्रं तद्ध्येव तत्स्तुतिः ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशाद्या यस्यांशा लोकसाधकाः ।
तमादिदेवं श्रीरामं विशुद्धं परमं भजे ॥

शिवजी कहते हैं—'मणिकर्णिकाघाटपर आधा शरीर गङ्गाजलमें डालकर पड़े हुए मुमूर्षु (मरणासन्न) व्यक्तिके कानोंमें ब्रह्मवाचक तुम्हारे तारक मन्त्र (श्रीरामनाम) का मैं उपदेश करता हूँ ।

'ॐ श्री राम राम राम—यही तारक मन्त्र है, अतएव हे जानकीनाथ ! तुम निश्चय ही परमब्रह्म हो ।

'श्रीरामसे श्रेष्ठ देवता नहीं, श्रीरामकी भक्तिकी अपेक्षा श्रेष्ठ व्रत नहीं, श्रीरामकी भक्तिसे बढ़कर कोई योग नहीं तथा श्रीराम-भक्तिसे बढ़कर कोई याग नहीं है ।

'श्रीरामचन्द्र ही एकमात्र आराध्य हैं, उनकी अर्चना एकमात्र व्रत है, उनका नाम एकमात्र मन्त्र है और उनकी स्तुति ही एकमात्र शास्त्र है । लोकमें सिद्धि देनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि देवता जिनके अंश हैं, मैं उन्हीं विशुद्ध आदिदेव परमात्मा श्रीरामका भजन करता हूँ ।'

शिवपुराणमें—

श्रीरामनाम निखिलेश्वरमादिदेवं
धन्या जनाः क्षितितले सततं स्मरन्ति ।
तेषां भवेत् परममुक्तिरयत्नतस्तथा
श्रीरामभक्तिरचला विमला प्रसाददा ॥
रामनाम सदा सेव्यं जपरूपेण नारद ।
क्षणार्द्धं नामसंहीनः कालः कालातिदुस्सहः ॥

श्रीमद्भागवतपुराणमें—

यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि
गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम् ।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट-
पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥
(९ । १० । २१)

पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन् ।
आनृशंस्यपरो राजन् कर्मबन्धैर्विमुच्यते ॥
(९ । ११ । २३)

'श्रीरामनाम अखिल जगत्का ईश्वर, आदिदेव है । पृथ्वीतलपर वे नर धन्य हैं, जो निरन्तर इसका स्मरण करते हैं। उनको बिना यत्नके ही परम मुक्ति तथा प्रसन्नता प्रदान करनेवाली निर्मल एवं अचला श्रीरामभक्ति प्राप्त होती है ।

'हे नारद ! जपके रूपमें रामनाम सर्वदा सेवनीय है । नाम-शून्य अर्द्धक्षणका समय काल (मृत्यु) की अपेक्षा भी अति दुस्सह है ।'

'भगवान् श्रीरामका निर्मल यश समस्त पापोंको नष्ट कर देनेवाला है । वह इतना फैल गया है कि दिग्गजोंका श्यामल शरीर भी उसकी उज्ज्वलतासे चमक उठा है । आज भी बड़े-बड़े ऋषि-मुनि राजाओंकी सभामें उसका गान करते रहते

हैं। स्वर्गके देवता और पृथ्वीके नरपति अपने कमनीय किरीटोंसे उनके चरण-कमलोंकी सेवा करते रहते हैं। मैं उन्हीं रघुवंश शिरोमणि भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरण ग्रहण करता हूँ।

'हे राजन्! जो पुरुष रामचरितको बार-बार श्रवण करके धारण कर लेता है, वह सहृदयताके परायण होकर कर्म-बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।'

नारदीय पुराणमें—

प्रातर्निशि तथा संध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन्।
श्रीमद्रामं समाप्नोति स्वच्छः पापक्षयं नरः॥
रामसंस्मरणाच्छीघ्रं समस्तक्लेशसंक्षयम्।
मुक्तिं प्रयाति विप्रेन्द्र तस्य विघ्नो न बाधते॥

नारद उवाच

सर्वेषां साधनानां च संदृष्टं वैभवं मया।
परंतु नाम माहात्म्यकलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
भवतापि परिज्ञातः सर्ववेदार्थसंग्रहः।
नाम्नः परं क्वचित्तत्त्वं दृष्टं सत्यं वदस्व वै॥
बहुधापि मया पूर्वं कृतो यत्नो महामुने।
नैव प्राप्तः परानन्दसागरो जन्मकोटिभिः॥
यावच्छ्रीरामनाम्नस्तु प्रभावो वै परात्परः।
नोऽभ्यस्तो हृदये ब्रह्मन् तावन्नानार्थनिश्चयः॥

'प्रातः, रात्रिमें, संध्याके समय और मध्याह्न आदिमें श्रीरामको स्मरण करके मनुष्य निर्मल होकर पापमुक्त हो जाता है।

'हे विप्रेन्द्र ! रामके सम्यक् चिन्तनसे क्लेश-समूह सत्वर नष्ट हो जाते हैं, कोई विघ्न उसे बाधा नहीं डाल सकता और उसे मुक्ति-लाभ हो जाता है।'

नारदजी बोले—'मैंने सब साधनाओंकी सामर्थ्यको सम्यक्रूपसे देखा है, किंतु वे सब (मिलकर) नाम-माहात्म्यके सोलहवें अंशके तुल्य भी नहीं हैं।

'आप भी तो सब वेदोंके अर्थ-संग्रहसे परिचित हैं, क्या आपने नामसे बढ़कर किसी तत्त्वको देखा है ? सत्य-सत्य कहिये।

'हे महामुने ! पहले मैंने भी अनेक यत्न किये थे, किंतु परमानन्दसागर कोटि जन्ममें भी प्राप्त नहीं हुआ।

'हे ब्रह्मन् ! जबतक श्रीरामनामका सर्वश्रेष्ठ प्रभाव हृदयमें नहीं जगता, तभीतक मनुष्य नाना प्रकारके अर्थोंका निश्चय करता है।'

मार्कण्डेयपुराणमें—

वेदानां सारसिद्धान्तं सर्वसौख्यैककारणम्।
रामनाम परं ब्रह्म सर्वेषां प्रेमदायकम्॥
तस्मात् सर्वात्मना रामनाम माङ्गल्यकारणम्।
भजध्वमवधानेन त्यक्त्वा सर्वंदुराग्रहान्॥

अग्निपुराणमें—

प्रातर्यच्चापराह्णे च मध्याह्ने च तथा निशि।
कायेन मनसा वाचा कृतं पापं दुरात्मना॥
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं च यत्।
रामनामजपाच्छीघ्रं विनष्टं भवति ध्रुवम्॥

भविष्योत्तरपुराणमें—

भजस्व कमले नित्यं नाम सर्वेशपूजितम्।
रामेति मधुरं साक्षान्मया संकीर्त्यते हृदि॥
गमिष्यन्ति दुराचारा निरयं नात्र संशयः।
कथं सुखं भवेद्देवि रामनामबहिर्मुखे॥
कायेन मनसा वाचा सुमहद्दुष्कृतं कृतम्।
राम रामेति संकीर्त्य सद्यस्तस्माद्विमुच्यते॥

'चारों वेदोंका सार-सिद्धान्त, सब सुखोंका एकमात्र कारण और सबको प्रेम प्रदान करनेवाला रामनाम ही परब्रह्म है। अतएव मन, वचन और कर्मसे सावधानीपूर्वक सारे दुष्ट अभिनिवेशोंको त्यागकर कल्याणकारी रामनामका भजन करो।'

'प्रातः, मध्याह्न, अपराह्ण और रात्रिमें तन-मन-वाणीके द्वारा किसी भी दुरात्माके किये हुए पाप, उस राम-नामके जपसे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, जो परब्रह्म, परमधाम, पवित्र और सर्वश्रेष्ठ है।'

'हे कमले ! सर्वेश्वर भगवान् शंकरके द्वारा पूजित राम-नामका नित्य भजन करो। मैं साक्षात् मधुर रामनामका हृदयमें संकीर्तन करता हूँ।

'दुराचारी लोग नरकमें जायँगे, इसमें संदेह नहीं है। हे देवि ! रामनामसे बहिर्मुख व्यक्ति कैसे सुख पा सकता है।

''काय-मन और वाणीसे यदि अतिशय भीषण पाप किया गया हो, तो भी मानव 'राम'नामका संकीर्तन करके तत्काल उससे मुक्त हो सकता है।''

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें—

अम्बरीष महाभाग श्रृणु मद्वचनं परम्।
सर्वोपद्रवनाशार्थं कुरु श्रीरामकीर्तनम्॥

तत्रैव—

रामनामसमं चान्यत् साधनं प्रवदन्ति ये।
ते चण्डालसमाः सर्वे सदा रौरववासिनः॥
नाम्नां सहस्रं दिव्यानां स्मरणे यत्फलं लभेत्।
तत्फलं लभते नूनं रामोच्चारणमात्रतः॥
राम नारायणानन्त मुकुन्द मधुसूदन।
कृष्ण केशव कंसारे हरे वैकुण्ठ वामन॥
इत्येकादश नामानि पठेद् वा पाठयेद् यतिः।
जन्मकोटिसहस्राणां पातकादेव मुच्यते॥

लिङ्गपुराणमें—

वृथालापे कृते व्रीडा येषां नायाति सत्वरम्।
हित्वा श्रीरामनामेदं ते नराः पशवः स्मृताः॥
स्मर्तव्यं हि सदा रामनाम निर्वाणदायकम्।
क्षणार्द्धमपि विस्मृत्य याति दुःखालयं जनः॥

'हे महाभाग अम्बरीष! मेरे श्रेष्ठ वचनको सुनो और सब प्रकारके उपद्रवके नाशके लिये श्रीरामनामका कीर्तन करो।

'जो लोग अन्य किसी साधनको रामनामके समान बतलाते हैं, वे सब चाण्डालके समान हैं और सदा नरकगामी होते हैं।

'मानव दिव्य सहस्रनामके स्मरणसे जिस फलको प्राप्त करता है, उस फलको वह केवल रामनामके उच्चारणसे प्राप्त कर सकता है।'

'राम, नारायण, अनन्त, मुकुन्द, मधुसूदन, कृष्ण, केशव, कंसारि, हरि, वैकुण्ठ और वामन—इन एकादश नामोंका पाठ करने या करानेसे संयमी पुरुष खरबों जन्मके पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

'इस रामनामको छोड़कर निरर्थक बातें करनेमें जिनको तत्काल लज्जा नहीं आती, वे मानव पशु समझे जाते हैं। निश्चय ही निर्वाणप्रद रामनाम सर्वदा स्मरणीय है, मनुष्य आधा क्षण भी उसे भूलकर दुःखालयमें जाता है अर्थात् अत्यन्त दुःखको प्राप्त होता है।' (क्रमशः)

सदाचार

[पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी ऐडवोकेट)

फूलोंमें जो स्थान सुगन्धका है, फलोंमें जो स्थान मिठासका है, भोजनमें जो स्थान स्वादका है, ठीक वही स्थान जीवनमें सदाचारका है। सदाचारके बिना जीवन फीका, नीरस और व्यर्थ है। इसलिये सदाचारका जीवनमें विशेष महत्त्व है। सदाचारी विद्वान् न हो तो कोई बात नहीं; लेकिन विद्वान् यदि सदाचारी न हो तो वह विशेष निन्दाका पात्र होता है। रावण विद्वान् था तथा अनेकानेक गुणोंसे युक्त था, लेकिन सदाचारका पालन न करनेसे वह निन्दाका पात्र बन गया।

जीवनको सुन्दर, सुखी और सफल बनानेके लिये अन्यान्य योग्यताओंके साथ-साथ सदाचारकी विशेष आवश्यकता है। जैसे बिना मुकुटके कोई राजा नहीं माना जा सकता, राजाके लिये मुकुट धारण करना जैसे अनिवार्य है, वैसे ही जीवनको सुखी एवं समृद्धिशाली बनानेके लिये सदाचारी होना अत्यन्त आवश्यक है। सदाचारका अभिप्राय केवल सच्चरित्रता अथवा दोषरहित जीवन ही नहीं है, बल्कि इसका विशेष अभिप्राय शास्त्रोंद्वारा और आप्त पुरुषोंद्वारा प्रतिपादित कर्मोंका अनुष्ठान करना है।

सृष्टिके आरम्भसे ही जैसे श्रुति-स्मृतिको धर्मका निर्णायक माना गया है, उसी प्रकार सदाचारको भी धर्मका निर्णायक माना गया है। धर्मके लक्षणोंकी व्याख्या करते हुए मनु भगवान्‌ने, जो आदि-विधायक कहे जाते हैं, कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

धर्मके जो चार लक्षण बताये गये हैं, उनमें वेद और स्मृतिके साथ-साथ सदाचार और अपनी आत्माको प्रिय लगनेवाला आचरण भी धर्म कहा गया है।

सदाचार एक तपस्या है। मनुभगवान्ने और भी कहा है—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥

× × ×

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥

(मनुस्मृति १। १०८, ११०)

'श्रुतियों तथा स्मृतियोंद्वारा प्रतिपादित आचरण ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है और इसके लिये द्विज-मात्र अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्योंको सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। सदाचारसे ही धर्मकी प्राप्ति देखकर मुनियोंने इसे तपस्याओंका मूल माना है।' धर्म और सदाचार एक दूसरेसे अलग नहीं हो सकते। ये एक-दूसरेके पूरक हैं। यदि धर्मका पालन किया गया तो वह सदाचारका ही पालन हुआ और सदाचारका पालन किया गया तो वह धर्मका ही पालन हुआ।

धर्मके विषयमें कहा गया है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥

(वही; ८। १५)

जिसने धर्मकी रक्षा की, धर्म भी उसकी रक्षा करता है और जिसने धर्मका हनन किया, धर्म भी उसका विनाश कर देता है। यही दशा सदाचारकी है—जिसने सदाचारका पालन किया, सदाचार भी उसकी रक्षा करता है और जिसने सदाचारका पालन नहीं किया, अनाचार या दुराचार किया, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। इसलिये जीवनकी रक्षाके लिये, जीवनमें प्रतिष्ठा, सम्मान प्राप्त करनेके लिये धर्मके साथ-साथ सदाचारका पालन करना भी नितान्त आवश्यक है। लोग धर्मको संकुचित अर्थमें लेते हैं और सदाचारको उससे अलग समझते हैं; लेकिन यह उनकी भूल है। बिना सदाचारी बने धर्म हो ही नहीं सकता और जिसे धार्मिक बनना है, उसके लिये सदाचारका पालन अनिवार्य है। जो सदाचारी है, वही धार्मिक भी है। ये दोनों एक दूसरेके पर्याय हैं। धर्मसे सदाचार और सदाचारसे धर्म अलग नहीं किया जा सकता।

सदाचारका सीधा अर्थ है—सत् आचार अर्थात् अच्छा आचरण। अच्छा आचरण उसी व्यक्तिका होगा, जिसका सहयोग धर्मसे होगा। हमारा आचरण अच्छा हो, इसके लिये नियमोंका भी विधान शास्त्रोंने किया है। शास्त्रोंने इन्हें दो भागोंमें बाँटा है—'यम' और 'नियम'। दोनों पाँच-पाँच हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम हैं। यम और नियमोंकी अलग-अलग व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है। उन नामोंसे ही उनके भाव प्रकट हो जाते हैं। सदाचारका पालन करनेवालेके लिये उनपर चलना, उनके अनुकूल अपने जीवनको बनाना अत्यावश्यक है। वे सभी वर्णोंके लोगोंके लिये प्रत्येक अवस्थामें समानरूपसे आचरणीय हैं। उनपर चलकर हमारे पूर्वज महान् यश प्राप्त कर चुके हैं और अपना नाम इतिहासमें अमर कर गये हैं। कितने खेदकी बात है कि हम भारतवासी उनके जीवन और उदाहरणको देखकर भी अपना जीवन तदनुकूल नहीं बनाते और न उनके बताये हुए मार्गपर चलते ही हैं। उन्हीं यमों और नियमोंका पालन करनेसे और उन्हींके अनुकूल आचरण करनेसे भारत किसी समय इतना महान् था। इसके विपरीत आज उनका पालन न करनेसे हम दिनोंदिन कितनी गिरी हुई स्थितिपर पहुँच रहे हैं और आगे भी पहुँचेंगे, यह किसीसे छिपा नहीं है। ऋषि-मुनि, संत-महात्मा अपने जीवनद्वारा जो आदर्श हमारे सामने उपस्थित कर गये हैं, उसपर चलना ही हमारे लिये सदाचारका आदर्श है, उनका जीवन ही हमारे जीवनका मार्ग है। जैसे मार्ग पकड़कर मनुष्य कहींसे कहीं चला जाता है, वैसे ही ऋषि-मुनि, संत-महात्माओंके द्वारा किये गये आचरणका अनुसरण करके ही

हम अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच सकते हैं। धर्मका तत्त्व समझना सहज नहीं है, किंतु महान् पुरुषोंके जीवनको अपना पथ-प्रदर्शक मानकर अपना जीवन सुधारना सरल है और इसके माध्यमसे हम आसानीसे सदाचारी बन सकते हैं। जनसाधारणके सुव्यवस्थित तथा सदाचारी जीवनके लिये धर्मग्रन्थोंकी अपेक्षा महापुरुषोंका जीवन अधिक आदरणीय माना गया है। कहा गया है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

'अनेक लोग अनेक प्रकारके तर्क करते हैं। श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न मिलती हैं। मुनियोंके विचार भी भिन्न-भिन्न हैं। धर्मका तत्त्व बड़ा गहन है, वह सबकी समझमें शीघ्र आनेवाला नहीं है। इसलिये ऐसी विकट परिस्थितिमें महापुरुषोंके आचरणका अनुसरण ही सर्वसाधारणके लिये एकमात्र धर्म और सदाचार है। आजकल जो व्यक्ति जिस पदपर और जिस क्षेत्रमें काम कर रहा है, उस-उस क्षेत्रमें और उस-उस पदपर जो-जो व्यक्ति नाम और यश प्राप्त कर चुके हैं, उन्हींके जीवनको आदर्श मानकर और उन्हींके द्वारा बताये मार्गपर चलकर हमलोग भी महान् और यशस्वी बन सकते हैं और इसी कसौटीपर सदा अपने कर्तव्योंकी जाँच करते रहना चाहिये।

श्री'भगवन्नाम-कौमुदी'*के कुछ निष्कर्ष

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती)

['श्रीभगवन्नाम-कौमुदी' नामक ग्रन्थ विद्वद्वर श्रीलक्ष्मीधरकी विद्वत्तापूर्ण गम्भीर कृति है। इसकी रचनाका समय पंद्रहवीं शताब्दीसे पूर्व ही है। ग्रन्थकर्ता श्रीधरस्वामीके अत्यन्त अनुग्रह-भाजन थे। दोनोंका मत भी प्रायः एक-सा ही है। श्रीरूपगोस्वामी एवं श्रीजीवगोस्वामीने कौमुदीके उद्धरण अपने ग्रन्थोंमें लिये हैं। ग्रन्थकी गम्भीर विचार-शैली साधारण जनताके लिये सुगम नहीं है, इसलिये उसका सरल, सारभूत-संक्षेप आपके सम्मुख प्रस्तुत है। यह ग्रन्थ विक्रम-संवत् १९८४ में अच्युत-ग्रन्थमाला, काशीसे पहले-पहल प्रकाशित हुआ था, फिर संवत् १९९५ वि०में गीताप्रेससे भी। परंतु अब वह अलभ्यप्राय है।]

यह ग्रन्थ अपने मनको भगवान्के नाममें समाहित करनेके लिये लिखा गया है।

भगवान्के नाममें अर्थवादकी कल्पना पाप है और इससे नरककी प्राप्ति होती है, यह जानते हुए भी अर्थवाद माननेवालोंके मतका अनुवाद केवल इसलिये किया जा रहा है कि उनका खण्डन किया जा सके। पापकी बात अपने मुँहमें लाना भी पाप है, तथापि उस मतका निराकरण करनेके बहाने नाम-माहात्म्यका मनन करनेका सौभाग्य मिलेगा, अतः उसका उल्लेख किया जाता है।

पूर्वपक्ष (१)—इतिहास-पुराण अपने मुख्य अर्थमें प्रमाण नहीं है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि जिन पुराण-वचनोंके द्वारा नाम-महिमाका प्रतिपादन किया जाता है, उनका

* इस ग्रन्थपर संस्कृत टीका है—'प्रकाश'। मीमांसाधुरन्धर आपदेवके पुत्र श्रीअनन्तदेव, जिनका वैदुष्य मीमांसकोंके लिये अनुकरणीय है, इस 'प्रकाश' टीकाके कर्ता हैं।

मुख्य अर्थ अभीष्ट नहीं है। इसका कारण यह है कि वेद कुछ-न-कुछ करने या न करनेके लिये विधि-निषेध-रूप आदेश ही देते हैं। जो वस्तु स्वयंसिद्ध है, उस वस्तुको बतानेमें वेदोंका तात्पर्य नहीं है; अतः आदेशात्मक वचन ही प्रमाण होते हैं—मन्त्र, अर्थवाद और उपनिषद् नहीं। ये किसी-न-किसी प्रकार विधि-विधानमें उपयोगी होते हैं अथवा जप-पाठके लिये होते हैं। जब वेदकी ही यह दशा है, तब उन्हींके पीछे-पीछे चलनेवाले इतिहास-पुराण तो अपने वाच्यार्थमें किंचित् भी प्रमाण नहीं हो सकते। जैमिनिने कह ही दिया है कि वेदमें जो यज्ञार्थ नहीं है, वह व्यर्थ है।

पूर्वपक्ष (२)—किसी-किसीका ऐसा कहना है कि केवल विधि-निषेधपरक वेद ही प्रमाण हैं, हम यह नहीं मानते। धर्मके सम्बन्धमें ठीक वही बात है; परंतु सिद्ध वस्तुके निरूपणमें भी वेद प्रमाण हैं—यह स्वीकार करना उचित है; क्योंकि आचार्योंने सिद्ध अर्थमें शक्ति और तात्पर्यका वर्णन किया है। लौकिक रूपसे यह बात कही जा सकती है कि जैसे 'तुम्हारे पुत्र हुआ है',—इस सिद्ध अर्थका बोधक वाक्य सुननेपर भी वाक्यार्थ-बोध और सुखरूप फलकी प्राप्ति होती है, वैसे ही वेदवाक्य सुननेपर भी। मन्त्र और अर्थवाद अज्ञात-ज्ञापक और विधिके उपयोगी अर्थके बोधक होनेपर भी अपने स्वतन्त्र अर्थके भी बोधक होते हैं। यदि कोई शब्द स्वभावसे ही निष्प्रतिबन्ध, निश्चितस्वरूप एवं प्रमाणान्तरसे अज्ञात वस्तुका विज्ञान उत्पन्न कराता हो तो उसके प्रमाण होनेमें क्या शङ्का है ? माना कि मन्त्र और अर्थवाद विधिके अङ्ग हैं; परंतु उपनिषद् विधिका अङ्ग कैसे हो सकते हैं। उनमें तो आत्माके अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी, अपरिच्छिन्न स्वरूपका वर्णन है, जो कर्मका अङ्ग नहीं हो सकता। आत्माके इस स्वरूपके ज्ञानसे समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति होती है। इसलिये यदि दूसरे प्रमाणसे यह विरुद्ध भी हो, तो भी यही वास्तविक प्रमाण है, और सब प्रमाणाभास हैं। कुमारिलभट्टने भी यह स्वीकार किया है कि इतिहास-पुराणोंके प्रमाणसे सृष्टि और प्रलय भी हमें अभीष्ट हैं।

अर्थवाद वहाँ होता है जहाँ अनुवाद, गुणवाद अथवा भूतार्थवाद होता है। यथा, 'अग्नि शैत्यका औषध है'—यह अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध होनेपर भी वेद इसका अनुवाद करता है। 'ब्रह्मचारी सिंह है' अथवा 'धाम आदित्य है'—यह शौर्य, दीप्तिमत्ता आदि गुणोंके कारण कहा गया है, इसलिये गुणवाद है। पहला उदाहरण प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध होनेके कारण वेदके द्वारा अनुवादित है। दूसरा उदाहरण प्रत्यक्षादिके विरुद्ध होनेके कारण केवल गुणोत्कर्षका सूचक अर्थवाद है। जहाँ कोई अर्थ न प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध हो और न विरुद्ध हो, वहाँ भूतार्थवाद-संज्ञक अर्थवाद होता है। जैसे, 'इन्द्रने वृत्रासुरको मारनेके लिये वज्र उठाया'—यहाँ न दूसरे प्रमाणोंसे संवाद है, न विवाद। ये सभी अर्थवाद इतिहास-पुराणोंमें भी आते हैं—ठीक वैसे ही, जैसे वेदोंमें ये अपने स्वार्थमें ज्यों-के-त्यों प्रमाण होते हैं।

यह ठीक है कि देवता-तत्त्वके प्रतिपादनमें और कर्तव्य-अर्थके प्रतिपादनमें स्मृतियाँ अपना-अपना विशिष्ट स्थान सुरक्षित किये हुए हैं, उनकी महिमासे मुकरना शक्य नहीं है; तथापि जहाँ बड़े-बड़े पापोंके प्रायश्चित्त-का प्रसङ्ग आता है, वहाँ स्मृतियोंके बड़े-बड़े प्रायश्चित्तों-का निषेध करके पुराण केवल नाम-संकीर्तनमात्रका विधान कर दें—यह उचित नहीं है। अतः उनका अभिप्राय भजनीय देवताकी स्तुतिमात्र, अर्थात् यह बतलाना है कि जिस देवताका एक बार नाम लेनेका ऐसा फल है, उसका यदि आजीवन भजन किया जाय तो वह क्या नहीं कर सकता। सारांश यह कि पुराणके नाम-महिमा-सूचक वचन अपने मुख्य अर्थके बोधक नहीं हैं, भजनमें प्रवृत्तिके रोचक हैं।

उत्तर पक्ष—

इस सम्बन्धमें हम यह कहना चाहते हैं कि पुराण अपने मुख्य अर्थमें सर्वथा प्रमाण हैं। जैसे वेद कर्तव्य-शासन और परमार्थ-शंसन—दोनोंमें समान रूपसे प्रमाण हैं, वैसे ही पुराण भी। जिस वर्णाश्रम-धर्मका वर्णन वेदोंमें है, उसीका पुराणोंमें भी है। भागवतके प्रथम स्कन्ध, प्रथम अध्यायके 'धर्मः प्रोज्झितकैतवः' श्लोकमें धर्म, ज्ञान और भक्ति—तीनों ही भागवतके प्रतिपाद्य हैं, यह स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है। महाभारतका भी यही कहना है कि 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके सम्बन्धमें जो कुछ इस ग्रन्थमें है, वही अन्यत्र, सर्वत्र है; जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।' त्रिकाण्डात्मक वेदके समान ही पुराण भी धर्म और ब्रह्म दोनोंके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा करते हैं और प्रतिपादन करते भी हैं। अनेक पुराण तो मुख्यतः धर्मके प्रतिपादनमें ही गतार्थ हैं। जैसे वेद काण्डभेदसे नानार्थका प्रतिपादन करता है और वह अविरुद्ध है, उसी प्रकार पुराण भी। पुराणोंका मुख्य विषय उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्मात्मैक्य ही है—'वेदा ब्रह्मात्मविषयाः'। वे कर्मका विधान भी कर्म-मोक्षके लिये करते हैं—'कर्ममोक्षाय कर्माणि।' तीनों काण्डों-की एकवाक्यता जैसी वेदोंमें होती है, वैसी पुराणोंमें भी। अतएव धर्म-शासन और ब्रह्म-शंसन—दोनोंमें वेदवत् प्रामाण्य है पुराणोंका।

पुराण अर्थवाद नहीं हैं—

यहाँ कोई कह सकता है—'यह तो ठीक है कि पुराणोंका धर्ममें भी तात्पर्य है; परंतु नाम-कीर्तन-विषयक पुराणवचन स्मृत्युक्त बृहत् प्रायश्चित्तोंके विधानके विरुद्ध हैं, इसलिये उन्हें प्रमाण मानना युक्तियुक्त नहीं है।' इसका उत्तर यह है कि 'आपकी बात सुनकर वे लोग डर जायँगे, जिन्होंने मीमांसा-पारावारका तलस्पर्शी अवगाहन नहीं किया है। मैं आपसे पूछता हूँ कि 'आप नाम-महिमाके प्रतिपादक वचनोंको अर्थवाद क्यों मानते हैं? क्या नाम-कीर्तनके विधिवाक्य नहीं मिलते? या किसी कर्मविधि आदिके वे अङ्ग या शेष हैं? अथवा वे जिन पदार्थोंका प्रतिपादन करते हैं, वे उनके मुख्य अर्थ नहीं हैं, अविवक्षित हैं? उनको अविहित माननेके ये कारण हो सकते हैं—'लिङ्', 'लोट्' वा 'तव्य' प्रत्ययोंका न होना, अथवा उनके वाच्यार्थका न होना अर्थात् वैसे कीर्तनादि रूप किसी कर्मका ही न होना। परंतु नाम-कीर्तनके प्रसङ्गमें आये हुए वाक्योंको अर्थवाद माननेके लिये ये दोनों कारण ठीक नहीं हैं; क्योंकि पूर्वमीमांसाकी रीतिसे आदेशात्मक प्रत्यय न होनेपर भी कालत्रयानवच्छिन्न द्रव्य-देवता-सम्बन्धसे यागविधिकी कल्पना हो जाती है। इसी प्रकार—

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम्।

इस पुराण-वचनके अनुसार कालत्रयानवच्छिन्न साध्य-साधन-सम्बन्धसे नाम-संकीर्तन-विधिकी सिद्धि हो जाती है। हरिसंस्मरण पापका एकमात्र और सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है—इसका अभिप्राय यह हुआ कि पापोंका नाश करनेके लिये हरिसंस्मरण करना चाहिये। इसमें 'लिङ्', 'लोट्', 'तव्य' सबका समावेश है। दूसरा पुराण-वचन है—

हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्।

अवशताकी स्थितिमें (बिना इच्छाके) किया हुआ भगवन्नामोच्चारण पाप-फलरूप यातनासे मुक्त करता है, अतः 'हरि-हरि' का उच्चारण करना चाहिये। वेदोंमें जहाँ 'यजते' (यज्ञ करता है), 'जुहोति' (हवन करता है)—ऐसे क्रियापद आते हैं, वहाँ भी लकारका परिणाम करके अथवा पञ्चम लकार (लोट्) मान करके विधि ही सिद्ध की जाती है। पूर्वोक्त प्रसङ्गोंमें भी 'अर्हति' आदि क्रियापद विधिबोधक ही हैं।

यदि यहाँ किसी दूसरी विधिका अङ्ग होनेके कारण नाम-महिमा-प्रतिपादक वचनोंको अर्थवाद मानें तो वह

कौन-सी विधि है, जिसके ये वचन शेष हैं ? नाम-कीर्तन-विधिके ही शेष हैं अथवा किसी दूसरी विधिके ? दूसरी किसी विधिका संविधान नहीं है और उपसंहार भी स्वतन्त्रतया नाम-संकीर्तनमें ही है। अतः ये और किसी विधिके शेष नहीं हैं। पूर्वमीमांसामें जैसे यह निर्णय दिया गया है कि 'जो प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहे, वह रात्रि-सत्रका अनुष्ठान करे', इसी प्रकार जो पापक्षय चाहता है, वह नाम-संकीर्तन-विधिका नियोज्य अधिकारी है। नाम-संकीर्तन अनुष्ठान है और पापक्षय है उसका फल। अतः नामविषयक विधि स्वतन्त्र है, कर्मविधिका अङ्ग नहीं।

एक और भी विलक्षणता ध्यान देने योग्य है—कर्मविधिमें हविष्य-त्यागका कर्मभूत जो शब्द है, वही देवता है। जहाँ 'विष्णु' शब्द है, वहाँ विष्णु, जहाँ 'शिपिविष्ट' है, वहाँ वही। 'अग्नि', 'शुचि', 'पावक'—सबकी यही दशा है; परंतु संकीर्तनमें ऐसी बात नहीं है। भगवान्‌का कोई भी नाम कहीं भी लिया जा सकता है, भगवान्‌का नाममात्र अशेषपापापहारी है। कर्मविधिमें पदार्थ-सम्बन्धसे भी नाम-संकीर्तनका अनुप्रवेश नहीं है। अतः नाम-कीर्तनकी फल-श्रुति यथार्थ है, अर्थवाद नहीं।

जहाँ भी वाक्यमें फलपरक विधिकी सम्भावना हो, वहाँ उसे अर्थवाद मानना अनुचित है; क्योंकि मुख्य अर्थ सम्भव होनेपर गौण अर्थकी कल्पना करना अनुचित है। क्या संकीर्तन क्रिया नहीं है ? फिर उसके द्वारा फलोत्पत्तिमें शङ्का क्या है ? वह स्वतः फलसाधन है और फलके लिये ही उसका विधान है।

यह बात पहले ही कह चुके हैं कि संकीर्तन-विधि स्वार्थपरक ही है। ऐसा कौन-सा बाधक है कि उसे विधिपरक न माना जाय ? यदि आप कहें कि कोई साधक नहीं है तो मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या स्वाध्यायके अध्ययनकी विधि संकीर्तन-विधिकी साधक नहीं है ? वहाँ केवल अध्ययनमात्र फल-साधक है कि नहीं ? एक-एक अक्षरका अध्ययन सप्रयोजन है। ऐसी अवस्थामें अक्षरोच्चारणके समान ही नामोच्चारण सप्रयोजन अर्थात् सफल क्यों नहीं हो सकता ? अतः नाम-संकीर्तन-महिमाका अन्यत्र तात्पर्य नहीं है। वह जिस प्रकार कहा गया है, वैसा ही है अर्थात् अर्थवाद नहीं है।

अबतक अर्थवाद होनेके तीनों कारणोंका, अर्थात् विधि न होना, अन्यविधिका शेष होना और स्वार्थमें तात्पर्य न होना—इनका निराकरण कर दिया गया।

नामकीर्तनके वाक्य विधि हैं—

विधि क्या है ? प्रेरक उपदेश—यह करो, यह मत करो। जो दूसरे प्रमाणसे ज्ञात न हो, अनुष्ठान-योग्य हो और अपने अभीष्टकी प्राप्तिका साधन हो, उसीको विधि कहते हैं। क्योंजी, भला, इसमें लिङ्, लोट् मात्रके बन्धनकी क्या आवश्यकता है ? वह किसी भी प्रकारके वाक्यसे ज्ञात हो सकता है। ठीक है, वाक्य-रचनाका बन्धन क्यों ? जब इच्छा हो तभी (काल-नियमके बिना) पापक्षयकी कामनासे नाम-कीर्तन करना चाहिये। वह करने योग्य है और उससे पापक्षय होता है। आप अर्थवाद-अर्थवाद कहते हैं, परंतु उसको विधिका शेष भी मानते हैं। यदि विधि न होती तो यह शेष कहाँसे आता ? जिसकी विधि है उसीका अर्थवाद है न ? क्या अर्थवाद-बलसे उपस्थापित विधि फलप्रद नहीं हुआ करती ?

यह लीजिये विधि-वचन—

भागवतमें 'कीर्त्तितव्यः' यह 'तव्य' विधायक है कि नहीं ? 'नामानि गायन् विचरेत्' यह 'विचरेत्' क्या है ? है न विधि ? 'संकीर्तयेत् जगन्नाथम्', 'गोविन्देति सदा वाच्यम्', 'नामानि पठेत्', 'विष्णोर्नामानि ईरयेत्' इत्यादि वाक्योंकी गणना क्या कोई कर सकता है ?

अस्तु, विधियाँ अनेक प्रकारकी होती हैं—नित्य विधि, नियमविधि आदि। उनमें संध्या-वन्दनादि नित्य विधि हैं। प्रतिदिनके स्वाध्यायके समान ही नामकीर्तन करना चाहिये। अब शङ्का यह होती है कि 'नित्य-विधियोंकी फलश्रुतियाँ अर्थवादरूप ही होती हैं, इसलिये उनका तात्पर्य कर्मानुष्ठानकी प्रेरणाका अङ्ग है, स्वतन्त्र फलदान नहीं। इसका समाधान यह है कि विधि चाहे नित्य हो या अनित्य, वह फलके विना पूर्ण नहीं होती। अतः आर्थवादिक फलको भी स्वीकार करना ही योग्य है।

नाम-संकीर्तन-प्रतिपादक वचन सर्वथा सत्य हैं और उनके द्वारा पापक्षयरूप फलका होना भी यथार्थ है। अतः पुराणोक्त नाम-संकीर्तन-महिमा विध्युक्त ही है।

कृष्ण कृष्ण मधुसूदन विष्णो कैटभान्तक मुकुन्द मुरारे।
पद्मनाभ नरसिंह हरे श्रीराम राम रघुनन्दन पाहि॥

(क्रमशः)

दवा और पथ्य

(लेखक—श्रीमोतीलालजी सुराना)

[श्रीश्रीप्रकाश मुनिजीके प्रवचनके आधारपर]

एक वीमार व्यक्ति वैद्यके पास दवा लेने गया। वैद्यने उसकी बीमारी देखी एवं उसके उपयुक्त दवा दे दी। पथ्यकी दृष्टिसे, क्या खाना, क्या नहीं खाना, यह भी बतलाया। रोगी दवा लेकर घर गया तथा उसने दवा ली भी, पर जीभको वह वशमें न रख सका। यह खाया, वह खाया, पथ्य पाला नहीं। इसके कारण उसके शरीरमें खुजली हो गयी। दवा लेकर वह नीरोग बन सकता था, पर पथ्यसम्बन्धी नियमोंका पालन न कर सकनेके कारण, अपना जो लक्ष्य था, उससे वह दूर चला गया। इसी प्रकार यदि कोई संतोंका उपदेश सुनकर साधु तो बन जाय, पर अपने नियमोंको पाले नहीं तो केवल वेष उसे नहीं तार सकता। वह अपने लक्ष्यपर नहीं पहुँच सकता। अपितु उस रोगीकी तरह वह और नयी-नयी व्याधियाँ मोल ले लेगा अर्थात् शुभ गति पानेके बजाय नरक एवं तिर्यक् योनि आदिमें स्थान पा लेगा।

पत्थरकी शिलापर यदि कोई नावकी आकृति बना दे या तूँबेकी बेलका चित्र बना दे तो उससे पत्थरकी शिला पानीमें तैरेगी नहीं। वह तो निश्चित ही डूबेगी। अतः केवल आकृति या वेषसे काम नहीं चलता। नियम-पालन आवश्यक है। यदि रोगी पथ्यसे घबरा जाय तो नीरोग कैसे बनेगा। उपसर्ग (कष्ट) यदि आये तो भी साधुको तो यही सोचना चाहिये कि पिछले कर्मोंका भोगद्वारा क्षय जबतक नहीं होगा, तबतक मुक्ति कैसे मिलेगी। उपसर्ग तो जितने भी आयें, उतना ही लाभ है। दिनभरमें दूकानदारके पास कई ग्राहक आते हैं तो दूकानदार खुशी मनाता है। उसे अधिक लाभ मिलता है। पर उस दूकानपर जो सेठका छोटा लड़का सामान ला-लाकर देता है, वह तो यही सोचता है कि 'ग्राहक कम आयें तो अच्छा, मुझे मेहनत नहीं करनी पड़ेगी।' पर वह अज्ञानी बालक यह नहीं सोचता कि 'यदि ग्राहक नहीं आयेंगे तो लाभ कहाँसे होगा।' अज्ञानी उपसर्गसे डरता है, पर यह अच्छा नहीं। उपसर्ग तो लाभका कारण है, साधु यह समझ ले तो उसका जीवन सुधरते देर न लगे। लोहेकी डिब्बीमें कागजपर पारस रखे तो लोहेकी डिब्बी सोनेकी नहीं बनेगी; पर यदि कागज अलग कर दिया जाय तो वह डिब्बी भी सोनेकी बन जायगी। इसी तरह कर्मरूपी कागज अलग हुआ तो धर्मरूपी पारससे अच्छी गति मिलना निश्चित है।

गीताका भक्तियोग—१०

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

[वर्ष ४५के १२वें अङ्कके पृष्ठ १३२९से आगे]

सम्बन्ध

सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका दूसरा प्रकरण—जिसमें ६ लक्षणोंका वर्णन हुआ है।

श्लोक

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

भावार्थ

इस श्लोकका विशेष तात्पर्य सिद्ध भक्तकी निर्विकारता-को बतलाना है। उसको किसी भी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता और उससे कोई भी प्राणी उद्वेजित नहीं होता। किसी भी प्राणीसे उद्वेग न होनेका भाव यही समझना चाहिये कि राग-द्वेष, हर्ष-शोक, भय-चिन्ता, संताप-क्षोभ और उद्वेगादि विकार* उसके अन्तः-करणमें होते ही नहीं। भगवान्‌के सिवा संसारका यत्किंचित् भी स्वतन्त्र आदर न होनेसे संसारके साथ सम्बन्ध होते हुए भी हर्ष-ईर्ष्या, भय-उद्वेगादि विकारोंसे वह सर्वथा मुक्त होता है। इन विकारोंसे मुक्त हुआ भक्त केवल भगवान्‌में ही लगा रहता है, इसीलिये वह भगवान्‌का अत्यन्त प्यारा होता है। उसे भी भगवान्‌के सिवा कोई भी, कहीं भी, किंचिन्मात्र भी प्यारा नहीं होता। उसका भगवान्‌में प्रेम स्वतः सिद्ध होता है।

(१) जड शरीरमें देश-कालके परिवर्तनसे होने-वाले विकार—जैसे बालकपनसे वृद्धावस्थाको प्राप्त होना, शरीरमें रोगादिका होना सिद्ध भक्तके भी होते हैं। इनका होना अवश्यम्भावी है, पर इनका होना दोष नहीं है।

* विकार दो तरहके होते हैं—(१) प्रकृतिके कार्य शरीरादिमें होनेवाले विकार और (२) जड-चेतनके सम्बन्धसे अन्तःकरणमें होनेवाले विकार।

(२) किंतु जड-चेतनके सम्बन्धसे होनेवाले राग-द्वेष, काम-क्रोध, हर्ष-शोकादि विकार सिद्ध भक्तके अन्तःकरणमें हो ही नहीं सकते। इन विकारोंका होना दोष माना गया है। अतः साधकको इनसे सर्वथा मुक्त होना चाहिये।

अन्वय

यस्मात्, लोकः, न, उद्विजते, च, यः, लोकात्, न, उद्विजते, च, यः, हर्षामर्षभयोद्वेगैः, मुक्तः, सः, मे, प्रियः।

यस्मात् लोकः य उद्विजते। (जिससे किसी भी जीवको उद्वेग नहीं होता)—भक्त सर्वत्र और सबमें अपने प्यारे प्रभुको देखता है—'**सर्वं वासुदेवः**' (गीता ७। १९), 'निज प्रभुमय देखहिं जगत' (रामचरित० ७। ११२)।' अतः मन, वाणी और शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ उसकी दृष्टिमें एकमात्र भगवान्‌के साथ ही होती हैं (गीता ६। ३१)। ऐसी अवस्थामें भक्त किसी जीवको कैसे उद्वेग पहुँचा सकता है। फिर भी भक्तोंके चरित्रोंमें देखा जाता है कि उनकी महिमा, आदर-सत्कार तथा कहीं-कहीं उनकी क्रिया—यहाँतक कि उनके मुखकी सौम्य आकृतिमात्र लोगोंके उद्वेगका कारण बन जाती है। लोग इस प्रकार उद्विग्न होकर भक्तोंसे द्वेष और विरोध करने लगते हैं एवं उन्हें दुःख पहुँचानेकी चेष्टा भी कर बैठते हैं। इस प्रकार दूसरे लोग तो भक्तके प्रति विरुद्ध क्रिया कर बैठते हैं; किंतु इसके विपरीत—जैसा कि आगे कहे गये '**लोकात् न उद्विजते**' पदोंसे प्रकट

होता है—भक्त उनसे उद्विग्न नहीं होता। यह भक्तकी महिमा है। लोगोंको भक्तसे उद्वेग होनेके सम्बन्धमें गहरा विचार किया जाय तो पता चलेगा कि भक्तकी क्रिया उनके उद्वेगका कारण नहीं होती; क्योंकि भक्त **'सर्वभूतात्मभूतात्मा'** (अर्थात् सब प्राणियोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मा है) होता है। उसकी मात्र क्रियाएँ प्राणियोंके परमहित और सेवाके लिये ही होती हैं। उससे कभी भूलकर भी किसीके अहितकी चेष्टा हो ही नहीं सकती। इसलिये उनके उद्वेगका कारण उनका अपना राग-द्वेष-ईर्ष्यायुक्त आसुरी स्वभाव ही होता है। उस दोषयुक्त स्वभावके कारण ही भक्तकी हितपूर्ण चेष्टा भी उनको उद्वेगजनक दीखती है। अतः इसमें भक्तका क्या दोष है ?

मृग, मच्छी, सज्जन पुरुष रत जल तृन संतोष।
व्याधा धीवर पिसुन जन करहिं अकारन रोष॥

भक्तोंसे जीवोंको वास्तवमें उद्वेग होनेका तो प्रश्न ही नहीं है, उल्टे भक्तोंके चरित्रोंमें ऐसे प्रसङ्ग भी आये हैं कि उनसे द्वेष अथवा विरोध करनेवाले लोग उनके चिन्तन और सङ्गके प्रभावसे अपना आसुरी स्वभाव छोड़कर भक्त बन गये। इसमें भक्तोंका उदारता-पूर्ण स्वभाव ही हेतु है—**'उदाराः सर्व एवैते'** (गीता ७। १८)। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी कहा है—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥
(रामचरित० ५। ४०। ७)

किंतु भक्तोंसे द्वेष करनेवाले सभीको लाभ ही हो, ऐसा नियम भी नहीं है।

विशेष बात—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।

—इन पदोंका अर्थ करते समय यह बताया गया कि लोगोंको अपने आसुरी स्वभावके कारण भक्तकी क्रियाओंसे उद्वेग हो सकता है और वे बदलेमें भक्तके विरुद्ध क्रिया कर सकते हैं, अर्थात् वे अपनेको भक्तके शत्रु मान सकते हैं। उक्त पदोंका अर्थ ठीक ही हुआ है; क्योंकि इसी अध्यायके १८वें श्लोकमें सिद्धभक्तके लक्षणोंका वर्णन करते हुए भगवान्ने **'समः शत्रौ च मित्रे'** पदोंका प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि भक्तके भी शत्रु और मित्र होते हैं (यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें कोई शत्रु-मित्र नहीं होता, तथापि दूसरे लोग अपनी मान्यताके अनुसार उसके शत्रु-मित्र बने रहते हैं)। यदि इन पदोंका अर्थ ऐसा किया जाता कि भक्तसे किसीको उद्वेग होता ही नहीं, दूसरे लोग भक्तके विरुद्ध चेष्टा ही नहीं करते तो फिर भक्तके लिये शत्रु-मित्रमें सम होनेकी बात नहीं कही जाती, बल्कि यह कहा जाता कि भक्तके शत्रु-मित्र नहीं होते।

च यः लोकात् न उद्विजते (और जो किसी जीवसे उद्वेजित नहीं होता)—**'यस्मान्नोद्विजते लोको'** इस पदमें भगवान् बता आये हैं कि भक्त किसी प्राणीके उद्वेगका कारण नहीं होता और अब इन पदोंके द्वारा कह रहे हैं कि उसे स्वयं किसी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता।

भक्तके भी शरीर, मन, इन्द्रियों और सिद्धान्तके विरुद्ध परेच्छासे क्रिया और घटना घट सकती है। परंतु भक्तका भगवान्में अत्यधिक प्रेम होनेके कारण वह उस प्रेममें इतना निमग्न रहता है कि उसे सर्वत्र और सबमें भगवान् ही दीखते हैं। इसलिये उसको प्राणी-मात्रकी क्रियाएँ, वे चाहे उसके कितनी ही विरुद्ध क्यों न हों, उसे भगवान्की लीला ही दीखती हैं। अतः किसी भी क्रियासे उसे कभी उद्वेग नहीं होता।

अपनी कामना, मान्यता, साधन अथवा धारणाका विरोध होनेसे ही मनुष्यको दूसरोंसे उद्वेग होता है।

भक्त सर्वथा पूर्णकाम होता है। इसलिये उसके लिये उद्वेग होनेका कोई कारण ही नहीं रहता।

च—तथा

यः—जो

हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः—हर्ष (प्रसन्नता), अमर्ष, भय एवं उद्वेगसे शून्य। निद्रा-आलस्य-प्रमादमें अज्ञानी पुरुषोंको सुखकी प्रतीति होती है—यह तामसी प्रसन्नता है। यह प्रसन्नता सर्वथा त्याज्य है।

शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियोंके अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, घटनाके संयोगसे एवं प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटनाके वियोगसे साधारण मनुष्योंके हृदयमें प्रसन्नता होती है—यह राजसी प्रसन्नता है। सांसारिक सम्बन्धोंको लेकर जितनी भी प्रसन्नता है, वह सब राजसी प्रसन्नता है। राजसी प्रसन्नताके आरम्भमें सुख प्रतीत होता है, परंतु परिणाम इसका दुःखदायी होता है।

राग-द्वेष-शून्य होकर संसारके विषयोंका सेवन करनेसे, संसारके प्रति त्यागका भाव होनेसे, परमात्मामें बुद्धि लग जानेसे, भगवान्‌के गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्य-लीला आदिकी बातें सुननेसे, भगवत्कृपाकी और तात्त्विक बातें सुननेसे एवं सत्-शास्त्रोंके पठन-पाठनसे साधकोंके चित्तमें जो प्रसन्नता होती है, यह सात्त्विक प्रसन्नता है। दूसरे अध्यायके ६४वें श्लोकमें **'प्रसादम्'** पद एवं अठारहवें अध्यायके ३७वें श्लोकमें **'आत्मबुद्धिप्रसादजम्'** पद सात्त्विक प्रसन्नताका वाचक है।

संसारसे वैराग्य होनेपर साधककी प्रगति स्वतः भगवान्‌की ओर होती है। संसारसे सर्वथा वैराग्य न होनेसे और भगवान्‌के मिलनेमें देरी होनेसे साधकके चित्तमें एक व्याकुलता पैदा होती है। यह व्याकुलता भी सात्त्विक प्रसन्नताका ही अङ्ग है। इस (सात्त्विक) प्रसन्नताका उपभोग करनेसे यह प्रसन्नता मिट जाती है और इसका उपभोग साधनमें बाधा देता है (गीता १४। ६)। साधकको चाहिये कि इस प्रसन्नताका उपभोग न करे एवं संसारसे विमुख होकर एक परमात्माकी ओर ही अपना लक्ष्य रखे। इस प्रसन्नतामें ऐसी शक्ति है कि यह व्याकुलताको समाप्त करके स्वयं भी उसी प्रकार शान्त और एकरस हो जाती है, जैसे अग्नि काठको जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है। इसके फलस्वरूप साधकको महान् आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

यहाँ हर्षसे मुक्त होनेका तात्पर्य यह है कि सिद्ध-भक्त सब प्रकारके (सात्त्विक, राजस, तामस) हर्षादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त होता है। पाँचवें अध्यायके २० वें श्लोकमें **'न प्रहृष्येत्'** पदसे और इसी अध्यायके १७वें श्लोकमें **'न हृष्यति'** पदसे यह बतलाया गया है कि संसारके संयोग-वियोग-जन्य हर्ष सिद्धभक्तको नहीं होता।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि सिद्धभक्त प्रसन्नता-शून्य होता है, वरं उसकी प्रसन्नता एकरस, विलक्षण, नित्य और अलौकिक होती है। वह पदार्थोंके संयोग-वियोगसे उत्पन्न, क्षणिक, नाशवान् एवं घटने-बढ़नेवाली नहीं होती। सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि रहनेसे, एकमात्र अपने प्यारे भगवान्‌को और उनकी लीलाओंको देख-देखकर वह स्वाभाविक ही सदा प्रसन्न रहता है।

पहले अध्यायके १२ वें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके २७वें श्लोकमें **'हर्ष'** शब्द राजसी प्रसन्नताके लिये आया है।

ग्यारहवें अध्यायके ४५ वें श्लोकमें **'हृषितः'** पद, सत्रहवें अध्यायके १६वें श्लोकमें **'मनःप्रसादः'** पद तथा अठारहवें अध्यायके ७६ वें और ७७ वें श्लोकोंमें **'हृष्यामि'** पद सात्त्विक प्रसन्नताके लिये आया है।

ग्यारहवें अध्यायके ४७वें श्लोकमें **'प्रसन्नेन'** पद भगवान्‌की कृपाका द्योतक है।

'अमर्ष' कहते हैं दूसरेकी उन्नतिसे होनेवाले संतापको। अपने समान या अपनेसे अधिक सुख-सुविधा, विद्या, महिमा, आदर-सत्कार आदि देखनेपर मनुष्यके मनमें दूसरोंके इस प्रकारके उत्कर्ष (उन्नति) को न सह सकनेकी वृत्ति उत्पन्न होती है। इसीको 'अमर्ष' कहते हैं। यह अमर्ष अच्छे कहलानेवाले पुरुषोंमें भी कहीं-कहीं उत्पन्न होता देखा जाता है। कई साधकोंमें भी दूसरे साधकोंकी आध्यात्मिक उन्नति और प्रसन्नता देखकर अथवा सुनकर इस प्रकारके अमर्षका किंचित् भाव पैदा हो जाता है। भगवद्भक्त इस विकारसे सर्वथा रहित होता है; क्योंकि उसकी बुद्धिमें अपने प्यारे प्रभुके सिवा अन्य कोई रहता ही नहीं। फिर वह कैसे और किसके प्रति अमर्ष करे। उसके मनमें दूसरोंकी उन्नतिके प्रति अमर्ष होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता, इसके विपरीत उनकी उन्नतिको देखकर उसके चित्तमें प्रसन्नता होती है।

दूसरोंकी आध्यात्मिक उन्नतिसे साधकके मनमें जो यह भाव पैदा होता है कि मेरी भी ऐसी आध्यात्मिक उन्नति हो, ऐसा भाव तो साधनमें सहायक होता है। इसके विपरीत यदि साधकके मनमें कदाचित् ऐसा भाव उत्पन्न हो जाय कि इसकी उन्नति क्यों होगी और इस भावके कारण उसके हृदयमें उसके प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाय तो यह अमर्षका भाव उसे पतनकी ओर ले जायगा।

चौथे अध्यायके २२ वें श्लोकमें **'विमत्सरः'** पद साधकोंके लिये अमर्षसे रहित होनेका ही संकेत करता है।

इष्टके वियोग और अनिष्टके संयोगकी आशङ्कासे उत्पन्न होनेवाले विकारको **'भय'** कहते हैं।

भय दो प्रकारके होते हैं—(१) बाहरी कारणोंसे—जैसे सिंह, साँप, चोर, डाकू आदिसे किसी प्रकारकी सांसारिक हानि पहुँचनेकी आशङ्कासे होनेवाला और (२) चोरी, व्यभिचार आदि शास्त्रविरुद्ध आचरणोंसे होनेवाला।

सबसे प्रबल भय मृत्युका होता है। अच्छे विवेकशील कहलानेवाले पुरुषोंको भी मरणका भय सदा बना रहता है। साधकको भी सत्सङ्ग-भजन-ध्यानादि करते हुए साधन-भजनसे शरीरके सूखने आदिका भय रहता है एवं यह भय भी रहता है कि संसारसे सर्वथा वैराग्य हो जानेपर शरीर और गृहस्थका पालन कैसे होगा। साधारण मनुष्यको मनचाही वस्तुकी प्राप्तिमें और प्राप्तिकी आशामें बाधा देनेवाले अपनी अपेक्षा बलवान् मनुष्यसे भय होता है। किंतु भगवद्भक्तको सर्वथा भगवान्‌के चरणोंका आश्रय रहनेसे वह सदैव भयरहित होता है। साधकको भी भय तभीतक रहता है, जबतक कि वह भगवान्‌के चरणोंका सर्वथा आश्रय नहीं लेता।

सिद्धभक्तको सर्वत्र अपने प्यारे प्रभुकी लीला ही दीखती है और भगवान्‌की लीला भक्तके हृदयमें भय कैसे उत्पन्न कर सकती है। अर्थात् भक्त सदैव भयरहित है।

दूसरे अध्यायके ३५वें श्लोकमें तथा ४०वें श्लोकमें आये हुए **'भयात्'** पद, तीसरे अध्यायके ३५वें श्लोकके अन्तर्गत **'भयावहः'** पद, दसवें अध्यायके ४ थे श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके ३५ वें श्लोकमें प्रयुक्त **'भयम्'** पद, ग्यारहवें अध्यायके २७वें श्लोकमें आया हुआ **'भयानकानि'** पद, ४५वें श्लोकमें **'भयेन'** पद और अठारहवें अध्यायके ३०वें श्लोकमें प्रयुक्त **'भयाभये'** पदके अन्तर्गत 'भय' शब्द—सभी भयके वाचक हैं।

मनके एकरूप न रहकर हलचलयुक्त हो जानेको **'उद्वेग'** कहते हैं। इस श्लोकमें **'उद्वेग'** का उल्लेख तीन बार आया है। पहली बार भगवान्‌ने इसका उल्लेख करके यह बताया है कि भक्त किसीके उद्वेगका कारण नहीं बनता। मूर्खता और आसुरी स्वभावके कारण लोग उससे उद्वेजित हो जाते हैं; पर इसमें भक्तका कोई

दोष नहीं होता । दूसरी बार उद्वेगकी बात कहकर भगवान्‌ने यह बताया कि दूसरे प्राणियोंकी किसी भी क्रियासे भक्तके अन्तःकरणमें उद्वेग नहीं होता । इसके सिवा अन्य कई कारणोंसे—उदाहरणतः बार-बार प्रयत्न करनेपर भी अपनी क्रियाके पूर्ण न होनेसे, क्रियाका मनचाहा फल न मिलनेसे, अनिच्छासे प्राप्त दुःखदायी घटनाओंसे—जैसे ऋतु-परिवर्तनसे, भूकम्प-बाढ़ आदिसे और अपनी कामना, मान्यता, सिद्धान्त अथवा साधनमें विघ्न पड़नेसे भी मनुष्यको उद्वेग होनेकी सम्भावना रहती है । इन सभी प्रकारके उद्वेगोंसे भक्त सर्वथा मुक्त होता है—यह बतलानेके लिये तीसरी बार 'उद्वेग' का उल्लेख किया गया है । तात्पर्य यह है कि भक्तके अंदर 'उद्वेग' नामकी कोई वस्तु रहती ही नहीं । उद्वेग उत्पन्न होनेके कारण अज्ञानजनित इच्छा और आसुरस्वभाव हैं । भक्तमें अज्ञानका सर्वथा अभाव होनेसे स्वतन्त्र इच्छा रहती नहीं, फिर आसुरी सम्पदा तो रह ही कैसे सकती है । भगवान्‌की इच्छा ही भक्तकी इच्छा होती है । स्वकृत क्रियाओंके फलरूपमें या अनिच्छासे जो कुछ अच्छे-बुरे पदार्थों एवं सुख-दुःखोंकी प्राप्ति उसे होती है, उसमें भगवान्‌की इच्छा हेतु होनेसे उसकी दृष्टिमें वह भगवान्‌की ही लीला होती है । इस प्रकार भगवान्‌की लीला समझकर भक्त हर समय आनन्दमें मग्न रहता है । ऐसे भक्तमें उद्वेगका अत्यन्ताभाव होता है ।

दूसरे अध्यायके ५६ वें श्लोकमें 'अनुद्विग्नमनाः' पदसे तथा पाँचवें अध्यायके २० वें श्लोकमें 'न उद्विजेत्' पदोंसे सिद्ध पुरुषको किसी भी अनुकूलता-प्रतिकूलता, प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिपर उद्वेग न होनेकी बात ही कही गयी है । सत्रहवें अध्यायके १५वें श्लोकमें 'अनुद्वेगकरम्' पद उद्वेग पैदा न करनेवाली वाणीके लिये आया है । 'मुक्तः' का अर्थ है विकारोंसे सर्वथा छूटा हुआ । हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादि विकार अन्तःकरणमें संसारका आदर रहनेसे ही अर्थात् परमात्माकी ओर पूरी तरह न लगनेसे ही उत्पन्न होते हैं । भक्त भगवान्‌में इतना तन्मय रहता है कि उसकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवा दूसरी वस्तु रहती ही नहीं । इसलिये उसके अन्तःकरणमें किसी भी प्रकारके विकार उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं रहती, अपितु उसमें स्वाभाविक ही सद्गुण-सदाचार रहते हैं ।

यहाँ इस श्लोकमें 'भक्तः' पद न देकर भगवान् 'मुक्तः' पद देते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि यावन्मात्र दुर्गुण-दुराचारसे भक्त सर्वथा छूटा हुआ होता है ।

गुणोंका अभिमान होनेसे दुर्गुण अपने-आप आ जाते हैं । अपने अन्तःकरणमें रहनेवाले सद्गुणोंको भक्त अपने गुण नहीं मानता । वह उनको भगवान्‌की विभूति मानता है । अतः सद्गुणोंका अभिमान न होनेसे उसमें किसी प्रकारके दुर्गुण-दुराचारोंके आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती ।

पाँचवें अध्यायके २८वें श्लोकमें 'मुक्तः' पदसे साधकोंके विकारोंसे मुक्त होनेकी बात कही गयी है, अठारहवें अध्यायके ७१वें श्लोकमें 'मुक्तः' पदका प्रयोग करके यह बताया गया है कि गीता-श्रवणसे मनुष्य पापोंसे छूट जाता है तथा उसी अध्यायके ४०वें श्लोकमें 'मुक्तम्' पदसे यह सूचित किया गया कि कोई भी प्राणी तीनों गुणोंसे मुक्त नहीं होता । इसी प्रकार चौथे अध्यायके २३वें श्लोकमें 'मुक्तस्य' पदसे सिद्ध कर्मयोगीके आसक्तिसे सर्वथा शून्य होनेकी बात कही गयी तथा तीसरे अध्यायके ९वें श्लोकमें एवं अठारहवें अध्यायके २६वें श्लोकमें 'मुक्तसङ्गः' पदके प्रयोगसे साधकको आसक्तिरहित होनेके लिये कहा गया है ।

सः—वह भक्त

मे=मुझे

प्रियः—प्रिय है । भगवान्‌के सिवा और कहीं यत्किंचित् भी आसक्ति न रहनेसे भक्तमें अवगुण रहते

ही नहीं और गुणोंको अपना नहीं माननेसे अभिमान भी नहीं रहता। ऐसा भक्त एकमात्र भगवान्‌को ही अपना प्यारा मानता है और '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**' के अनुसार ऐसे भक्तके विषयमें भगवान् कहते हैं कि 'वह मुझे अत्यन्त प्यारा होता है।'

सातवें अध्यायके १७वें श्लोकमें दो बार तथा इसी अध्यायके १४वें, १६वें, १७वें और १९वें श्लोकोंमें 'प्रियः' पद सिद्ध पुरुषोंके लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

नवें अध्यायके २९वें श्लोकमें तथा सत्रहवें अध्यायके ७वें श्लोकमें 'प्रियः' पद साधारण प्रियताके लिये आये हैं।

ग्यारहवें अध्यायके ४४वें श्लोकमें 'प्रियः' पद प्रेमीके लिये आया है।

अठारहवें अध्यायके ६५वें श्लोकमें 'प्रियः' पद अर्जुनको प्यारा बतलानेके लिये प्रयुक्त हुआ है।

(क्रमशः)

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

अपने लिये भजन आपको ही करना पड़ेगा।

प्रतिदिन आयु कम हो रही है, मृत्यु निकट आ रही है—इसे मत भूलें। मृत्युके बाद आपके न रहनेपर भी यहाँके किसी काममें कोई अड़चन न होगी, यह बिल्कुल ठीक मानिये। आप देखते हैं—परिवारमें किसी प्रमुख व्यक्तिकी मृत्युके समय कितना हाहाकार मचता है, पर पीछे सब अतीतके गर्भमें दब जाता है। उनका अभाव कितने आदमियोंको खटकता है। यही दशा हम सबकी होगी। लोग भूल जायँगे और जगत्‌का काम ठीक जैसा चलना चाहिये, वैसा चलता रहेगा। पर आपके बिना एक काम नहीं ही होगा। आपके लिये भजन आपको ही करना पड़ेगा। इस कामकी पूर्ति आपको ही करनी पड़ेगी। इसलिये खूब गम्भीरतासे मनको, जो यहाँ फँस रहा है, यहाँसे निकालकर आगेके सुधारमें लगाइये। भगवत्प्राप्तिके सिवा कोई और स्थिति ऐसी नहीं है कि जो निर्भय हो, जहाँसे पतनका भय न हो। सर्वत्र अशान्ति है, सर्वत्र भय लगा हुआ है। इसलिये उस स्थितिको पानेमें ही हमारी सार्थकता है, जिसे पाकर अशान्ति मिट जाय—अनन्त शान्ति मिल जाय, सदाके लिये हम सुखी हो जायँ।

चेष्टा रखिये—प्रति पाँच मिनटपर भगवच्चरणोंकी स्मृति हो ही जाय।

'......'की मृत्युका समाचार सुनकर बहुत विचार हुआ; पर वस्तुतः यह तो एक दिन सभीके जीवनमें होना अनिवार्य है। अतएव इस घटनासे हम सबको शिक्षा अवश्य लेनी चाहिये। वे शायद दो महीने पहले यह कल्पना भी नहीं करते होंगे कि 'मुझे इतनी शीघ्रतासे यहाँसे जाना है।' ऐसे ही क्या पता, हमलोगोंमेंसे कब किसको यहाँसे एकाएक चला जाना पड़े। अतः सामान बाँधकर तैयार रहना चाहिये। उस यात्रामें एकमात्र सामान है—मनके संस्कार। बस, इतना ही सामान जायगा, बाकी सब यहीं रह जायगा। तथा संस्कारोंमें भी सर्वोत्तम संस्कार हैं—भगवद्भजनके, भगवत्स्मरणके। इनको जिसने बटोरा, वही चतुर है, वही पण्डित है; अन्यथा वह ठगा गया, इसमें कोई संदेह नहीं। अतः इन बातोंपर विश्वास करके निरन्तर भगवच्चरणोंको याद रखनेका आपको दृढ़ नियम लेना चाहिये। निरन्तर न हो तो कम-से-कम प्रति पाँच मिनटपर तो स्मृति हो ही जाय। इस बातमें चेष्टा एवं तीव्रता लानेकी जरूरत है, फिर सफलता मिलेगी ही।

किसी भी सांसारिक उलट-फेरसे चित्तको उद्विग्न मत होने दीजिये ।

कर्तव्यका पालन करना अच्छा है; पर जिस कर्तव्यपालनसे हम भगवान्से विमुख होते हैं, वह कर्तव्य नहीं है; हमारी आसक्तिवश वह हमें कर्तव्य दीख रहा है । यह कर्तव्यके जाँचकी कसौटी है, अतः इस कसौटीपर जाँच करके ही कर्तव्यपालनमें लगना चाहिये । भूल भी कभी हो सकती है; पर भगवान्का आश्रय करके अपनी बुद्धिसे बार-बार सोच लेना चाहिये, फिर कृपामय प्रभु सँभाल लेते हैं ।

संक्षेपमें, किसी भी सांसारिक उलट-फेरसे चित्तको उद्विग्न मत होने दीजिये एवं सांसारिक उन्नतिकी चेष्टासे सर्वथा उपराम हो जाइये । पेट भरनेके लिये भोजन और शरीर ढँकनेके लिये वस्त्रकी आवश्यकता है; इनके लिये मामूली चेष्टा होनी चाहिये, फिर प्रभुके विधानके अनुसार आवश्यकताभर ये दोनों चीजें मिल ही जायँगी । इस सम्बन्धमें यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि आपको जितनी मिलेगी, ठीक-ठीक उतनीकी ही आपको आवश्यकता है । आपको यह दीख सकता है कि आवश्यकतासे कम मिल रहा है, पर ठीक मानिये कि दयामय प्रभु आवश्यकतासे कम नहीं दे सकते ।

शरीरसे भी उपराम ही रहना चाहिये । इसका यह अर्थ नहीं है कि भोजन कम हो जाय अथवा जाड़ेके दिनोंमें कपड़ा नहीं पहना जाय । यथायोग्य शरीरकी सेवा भी होनी चाहिये, पर इसमें मन नहीं फँसे । शरीरमें व्याधि हो जानेपर चित्त उद्विग्न होने लगता है, पर ऐसे अवसरपर धैर्यके साथ पीड़ाको सहन करना चाहिये । इससे पूर्वके कर्मोंका बोझ कम होगा और आप हल्के होंगे—यह बात तो थोड़ी भी शास्त्रपर श्रद्धा रखनेवाला व्यक्ति अनुभव कर सकता है ।

सुखकी भ्रान्तिमें जीवनको बर्बाद करना भारी भूल है ।

ऐसा सुन्दर मनुष्यजीवन व्यर्थ न हो जाय, इस विषयमें खूब सावधान रहें । वास्तविक सुखकी इच्छा जाग्रत् हो, इसके लिये बुद्धि पलटनेकी जरूरत है । पहले मनुष्यको विश्वास करके ही चलना पड़ता है, फिर अनुभव होनेपर तो डिगना असम्भव है । निश्चित रूपसे विश्वास कीजिये—इस संसारमें सुखका लेश भी नहीं है । भगवान्को जैसे मानते हैं, माननेकी चेष्टा करते हैं, वैसे ही भगवद्वचनोंको भी माननेकी चेष्टा कीजिये—**'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।'** (गीता ९ । ३३) 'यह संसार अनित्य है, इसमें सुख है ही नहीं; सुख चाहते हो तो मेरा भजन करो—भगवान्के ये वचन मिथ्या न हुए हैं न होंगे। सुखकी भ्रान्तिमें जीवनको बर्बाद करना भारी भूल है । इससे भारी भूल और हो नहीं सकती ।

देहसे, परिवारसे, जिन्हें भी आप अपना मानकर भगवान्को भूल जाते हैं, उन सबसे वियोग अनिवार्य है । इसके पहले भी आपका एक परिवार था; पर अब स्मृति भी नहीं है कि उस परिवारके लोगोंकी क्या दशा है । बेचारे भूखों भी मर रहे होंगे या मर गये हों, तो भी आपको उनकी चिन्ता नहीं होती । इसी प्रकार इन सबको भी आप अवश्य भूल जायँगे । इसीलिये अभीसे उनकी चिन्ता करना छोड़ दीजिये । ये सब प्रभुकी सम्पत्ति हैं; आगे-से-आगे सबके 'योगक्षेम' का यथोचित प्रबन्ध लगा हुआ है । आप निमित्तमात्र बनते हैं । अतएव वे जैसी प्रेरणा करें, उसके अनुसार चलें; पर ध्यान रखें, पापसे संयुक्त स्फुरणाओंको उनकी प्रेरणा मत मानियेगा । यदि एक क्षणके लिये भी किसी भी असत्यका आश्रय परिवारके योगक्षेमके नामपर आपके द्वारा होता है तो समझ लें, मन धोखा दे रहा है । भूखसे तड़पकर मर जाना अच्छा है—इस मृत्युसे अत्यन्त सुन्दर भविष्यका

निर्माण होगा; पर पापके द्वारा जीवन-निर्वाहकी चेष्टा ठीक नहीं है। किसी भी पापका परिणाम अवश्य ही अशुभ है।

पैसेका सम्बन्ध, पैसेकी चाह और पैसेमें सुख-बुद्धि जबतक है, तबतक बहुत ही सावधान होनेकी जरूरत है। प्रभुकी कृपाका अवलम्बन रहे और मुँहसे नामजप निरन्तर होता रहे—ऐसी चेष्टा करनेपर उत्तरोत्तर बुद्धि-मन पवित्र होंगे और तभी जगत्में सुख-बुद्धिका पूर्णतया अभाव होगा। इसलिये अधिक-से-अधिक नाम लें।

सर्वथा नामके आश्रित हो जाइये।

अनन्त शान्ति मिल जाय, सदाके लिये हम सुखी हो जायँ—इसके लिये अनेक मार्ग हैं; पर उनमें सबसे सुन्दर साधन है—भगवान्के नामकी निरन्तर रटन। भागवतके द्वितीय स्कन्धमें सबसे पहले शुकदेवजी महाराज अपना हृदय खोलते हुए कहते हैं—

> एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
> योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥
>
> (भाग० २।१।११)

'जो लोग संसारमें दुःखका अनुभव करके उससे विरक्त हो गये हैं और निर्भय मोक्षपदको प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधकोंके लिये तथा योगसम्पन्न सिद्ध ज्ञानियोंके लिये भी समस्त शास्त्रोंका यही निर्णय है कि वे भगवान्के नामोंका प्रेमसे संकीर्तन करें।'

इन वचनोंपर विश्वास कीजिये और सर्वथा सब प्रकारसे नामके आश्रित हो जाइये। पापके बुरे संस्कार बाधा देते हैं; इसलिये जैसी चाहिये, वैसी रुचि नहीं होती। पर जैसे रोगी दवा समझकर कड़वी दवाका भी सेवन करता है, वैसे ही मनको प्रिय न लगनेपर भी हठसे नामजप करें। जैसे-जैसे पापोंके संस्कार मिटेंगे, वैसे-वैसे प्रियता बढ़ने लगेगी। विलम्ब मत कीजिये। इसमें प्रमाद करना बड़ी भारी भूल है। यहाँकी उन्नति-अवनतिमें कुछ भी सार नहीं है। बहुत दृढ होनेकी जरूरत है, अन्यथा पश्चात्ताप होगा। सब कीजिये, ज्यों-का-त्यों ऊपरसे रहिये; पर भीतरसे बदल जाइये। यह बात अपने-आप होने लगेगी, यदि तत्परतासे नामकी रटन होने लगे। अतएव वाणीका पूरा संयम करके आवश्यकताभर बोलनेके बाद बाकी कुल समय मशीनकी तरह नाम लेनेमें बीते। इसमें लाभ-ही-लाभ है।

भूल-सुधार

'कल्याण'के पिछले विशेषाङ्क 'श्रीरामाङ्क'में आन्ध्रप्रदेशके श्रीयुत बी० आर० के० आचार्युलु नामक विद्वान्का 'तेलुगु भाषामें रामकथा' शीर्षक एक लेख पृ० ५५९ से ५६० तक छपा है। हमलोगोंको तेलुगु भाषाका ज्ञान न होनेके कारण उक्त लेखमें दो अवाञ्छनीय भूलें छप गयी हैं, जिनकी ओर लेखक महोदयने कृपापूर्वक हमारा ध्यान आकर्षित किया है और जिन्हें कृपालु पाठकोंकी जानकारीके लिये नीचे दिया जा रहा है—

(१) पृ० ५५९ के बायें कालमकी पंक्ति ४ में 'एर्रना'के स्थानमें 'एरिना' छप गया है।

(२) उसी पृष्ठकी उसी कालमकी पंक्ति ११ में 'अय्यल राजु' के स्थानपर 'अर्यल राजु' छप गया है।

पाठक महोदय कृपया इन भूलोंको अपनी-अपनी प्रतिमें सुधार लेंगे।

इसी प्रकार श्रीरामाङ्कके पृ० ३३३ में बायें कालमकी नीचेसे नवीं पंक्तिमें 'केसरीके गर्भसे' के स्थानपर 'केसरीकी पत्नी अञ्जनाके गर्भसे' इस प्रकार पढ़ना चाहिये।

—सम्पादक

भगवान्‌का भजन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

सुसङ्ग अथवा सुसंस्कारसे प्रेरित होकर हमने भजन करनेका नियम बनाया । अपने निश्चित समयपर भजन आरम्भ और समाप्त होता रहा । हम संतुष्ट थे कि नित्य नियमसे भजन चल रहा है । भजन न करनेवालोंको प्रायः अपने-जैसा भजन करनेका उपदेश भी देते थे । बहुत समय बीतनेपर ज्ञात हुआ कि जो कुछ भी हम नाम-जप करते हैं या भक्तोंके रचे हुए गीतोंको गाते हैं—यही भजन नहीं है, यह तो मात्र शुभ कर्म है । इससे पवित्र भावनाकी जागृति होती है । सम्बन्ध जुड़ता है । जप करते हुए, गीत गाते हुए यदि भगवान्‌के ऐश्वर्य, सौन्दर्य और माधुर्यका मनन-चिन्तन नहीं चलता तो भगवदाकार वृत्ति भी नहीं बन पाती । जपकी संख्या पूरी होनेपर अहंकारको संतोष अवश्य हो जाता है और भगवत्सम्बन्धी गीत-गानसे यदि श्रोता प्रसन्न हो गये तो मनका रस तो मिलता रहता है, परंतु ऐसे भजनसे वर्षों बीत जानेपर भी भगवान् नहीं मिलते, कदाचित् धन तथा भोग एवं सम्मानकी प्राप्ति होती रहती है । नाम-जप अथवा कीर्तन—भगवद्गुण-गानके फलरूपमें अनेक मङ्गल अवसर सामने आते हैं और उन्हींके द्वारा हम जान सके कि भगवद्भजनका स्वरूप क्या है ।

भजन उसे कहते हैं, जिसका आरम्भ होनेके पश्चात् अन्त ही नहीं होता । जीवनके समस्त कर्म, समग्र भाव, समस्त सद्विचार और हृदयकी प्रीति—सब कुछ भजनकी पूर्णताके साधन बन जाते हैं । परम गुरु भगवान्‌का निर्णय है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १५ । १९)

'हे भारत ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।' भगवान्‌के इस निर्णयके अनुसार जबतक साधक पुण्यकर्मोंके द्वारा पापोंको नष्ट नहीं कर लेते, तबतक सुख-दुःख, लाभ-हानि, मानापमान, संयोग-वियोगादि द्वन्द्वोंके मोहमें बुद्धि फँसी रहती है; इसीलिये उनकी भजनमें दृढ़ता नहीं हो पाती । भजनके कुछ अंशमात्रसे वे अहंकारको संतुष्ट करते रहते हैं । भजनका ज्ञान तो हो नहीं पाता, पर अभिमान अवश्य बढ़ जाता है । इस प्रकारके भजनाभिमानी अनेकों साधक कभी-कभी दुःखी—अशान्त होकर प्रश्न करते हैं कि 'भजन करते वर्षों बीत गये, न तो शान्ति मिलती है न भगवत्कृपाका ही अनुभव होता है ।' साधकोंको सावधान होकर प्रथम विवेकपूर्वक तन, मन, धन और अधिकारसे धर्मका आचरण करना चाहिये । धर्मयुक्त प्रवृत्तिसे ही लोभ, मोह और अभिमान आदि दोषोंकी निवृत्ति अथवा विरति होती है ।

जप भी एक यज्ञ है । जपसे सिद्धि मिलती है । परंतु यह समझ लेना आवश्यक है कि जपमात्र ही भजन नहीं है, सर्वभावसे भगवान्‌की सेवामें प्रवृत्ति ही भजन है । भजन वही है, जिससे भगवदाकार वृत्ति विषयाकार नहीं बन पाती ।

जबतक साधक परमेश्वरसे अपने आपको पृथक् मानता है, संसारमें परस्पर भेद-भाव रखता है, तबतक सर्वभावसे उनको—भगवान्‌को नहीं जानता और इसीलिये उनका सर्वतोभावेन भजन नहीं कर सकता ।

परम गुरुके दिये हुए ज्ञानकी दृष्टिसे देखनेपर यह भी ज्ञात हुआ कि सेवाके लिये—भगवद्भजनके लिये

अटूट साहस परम सहायक होता है। इस तरहके साहसमें मान, धन, लोभ और आसक्तिके त्यागका बल होता है। सत्यके प्रेमीमें ही त्यागका साहस होता है। जो तनको श्रमके लिये, इन्द्रियोंको संयमके लिये, मनको दृढ़ संकल्पके लिये, बुद्धिको विवेकके लिये और अपने आपको समर्पणके लिये नहीं साध पाता, वह भजनमें पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता। अहंकारको समर्पित करनेके लिये कोई प्रयास नहीं करना होता, केवल इसे जान लेनेसे ही समर्पण पूर्ण हो जाता है। अहंकारके लिये परमात्मा दूरातिदूर हैं; जो ज्ञानदृष्टिसे देखते हैं, उनके लिये परमात्मा निकट—अति निकट, वहीं हैं, जहाँ अहंकार है। जो परमात्मा सर्वत्र, सर्वदा और सर्वमय हैं, उन्हें कहीं जाकर खोजनेसे नहीं पाया जा सकता। जो परमात्माको खोजते हैं, वे भजन नहीं कर पाते। भजनकी पूर्णताके लिये जिस प्रेमकी आवश्यकता है, वह अहंकारसे ढक जाता है। जो कुछ होना चाहता है, कुछ बनना चाहता है, वह अहंकार ही है। अहंकारको देखना ही उससे मुक्त होनेका उपाय है। अहंकारके कारण ही मानव-हृदय अति कठोर बना रहता है, कठोर-कृपण व्यक्ति भगवान्का भजन नहीं कर सकता। भजनके लिये तो हृदय अत्यन्त सरल-विनम्र होना चाहिये। सरलता और विनम्रतामें ही भगवत्प्रेमका रसास्वाद प्राप्त होता है, परमात्माके अनुपम सौन्दर्य और माधुर्यका दर्शन होता है। पूर्ण प्रेममें ही भगवद्भक्ति पूर्ण होती है। यही भगवान्के भजनका परम फल है।

संसारकी ममता झूठी है

गुरुने शिष्यसे कहा—'संसार मिथ्या है, तू मेरे साथ निकल चल।' शिष्यने कहा—'महाराज! ये सब मुझे इतना चाहते हैं—मेरे बाबूजी, मेरी माँ, मेरी स्त्री! इन्हें छोड़कर मैं कैसे जाऊँ?' गुरुने कहा—'तू मेरा-मेरा करता तो है, और कहता है कि ये सब प्यार करते हैं; परंतु यह सब भूल है। मैं तुझे एक उपाय बतलाता हूँ, उसे करके देख, तो तू समझ जायगा कि ये लोग तुझे सचमुच प्यार करते हैं या इसमें दिखावट है।' यह कहकर एक दवा उन्होंने उसके हाथमें दी और कहा—'इसे खा लेना, खानेपर तू मुर्देकी तरह हो जायगा। तेरा ज्ञान नष्ट न होगा, तू सब देख-सुन सकेगा। फिर मेरे आनेपर क्रमशः तेरी पहलेकी अवस्था हो जायगी।'

शिष्यने ठीक वैसा ही किया। घरमें सब रोने लगे। उसकी माता, उसकी स्त्री, सब-की-सब उल्टी पछाड़ें खाने लगीं। इसी समय एक ब्राह्मणने आकर पूछा—'यहाँ क्या हुआ है?' उन लोगोंने कहा—'महाराज! इस लड़केको राम ले गये।' ब्राह्मणने उस मुर्देका हाथ देखकर कहा—'यह क्या—यह तो मरा नहीं है। मैं एक दवा देता हूँ, उसके खानेसे यह अभी चंगा हो जायगा।' उस समय डूबते हुएको जैसे सहारा मिल गया, घरवाले बड़े प्रसन्न हुए। तब ब्राह्मणने कहा—'परंतु एक बात है—पहले एक दूसरे आदमीको दवा खानी पड़ेगी, फिर इसे। परंतु पहले जो दवा खायगा, उसकी मृत्यु अनिवार्य है। इसके तो अपने आदमी बहुत हैं, कोई-न-कोई अवश्य ही खा लेगा। इसकी माँ और इसकी स्त्री बहुत रो रही हैं, ये लोग तो अनायास ही दवा खा लेंगी।

तब वे सब-की-सब रोना-धोना बंद करके चुप हो रहीं। माताने कहा—'एँ, यह इतना बड़ा परिवार! मैं अगर मर गयी तो इन सबकी देख-रेखके लिये कौन रहेगा!' यह कहकर वे सोचने-विचारने लगीं। उसकी स्त्री कुछ देर पहले रो रही थी—'अरी मेरी दीदी, मुझे यह क्या हो गया''री''' उसने कहा—'अरे, उन्हें जो होना था, सो तो हो चुका। मेरे दो-तीन नाबालिग लड़के-बच्चे हैं; मैं अगर मर गयी तो फिर इन्हें कौन देखेगा?'

शिष्य सब देख-सुन रहा था। वह उठकर खड़ा हो गया और बोला—'गुरुजी! चलिये, मैं आपके साथ चलता हूँ।'

(श्रीरामकृष्णवचनामृत)

मदान्ध यक्षपुत्रोंकी मुक्ति

(लेखक—संतप्रवर श्रीरामचन्द्रजी शास्त्री डोंगरे महाराज)

प्रभुकी लीला बड़ी विचित्र है । वे कब कौन-सा काम किस हेतु करेंगे, इसे कोई नहीं जानता; किंतु उनकी लीलाका हेतु होता है, अपने भक्तोंका उद्धार । भगवान् दामोदर बने । क्या बँधनेके लिये यह लीला की थी उन्होंने ? नहीं, इस लीलामें भी भक्तोंका उद्धार करना उनका उद्देश्य था ।

लालाको बाँधकर यशोदा पाकशालामें चली गयीं । यशोदाका शरीर पाकशालामें था; परंतु मन श्रीकृष्णमें लगा हुआ था । वे अनुभव कर रही थीं कि 'कन्हैयाको बाँधकर मैंने अच्छा नहीं किया । परंतु क्या करूँ; उसे तो चोरीकी आदत पड़ गयी है, उसे तो छुड़ाना ही होगा ।'

आज कोई भी बालक घर नहीं गया । वे सब सोच रहे हैं, कन्हैयाको हमारे लिये बँधना पड़ा है । 'लाला, तुझे कष्ट हो रहा है ।' लाला कहता है—'मुझे तनिक भी कष्ट नहीं है । मैं तो परिहास कर रहा हूँ ।' लालाने सोचा—'सखाओंसे कहूँगा कि परिश्रम पड़ रहा है तो वे दुःखी हो जायँगे ।' इसीलिये कह दिया कि 'मुझे तनिक भी कष्ट नहीं है ।'

वैष्णव सावधान रहते हैं कि हमारे प्रभुको कोई श्रम न हो । इसी प्रकार परमात्मा सावधान रहते हैं कि मेरे वैष्णवोंको कोई क्लेश न हो ।

श्रीभगवान्‌को आज बैलगाड़ीकी लीला करनी है । वे सोच रहे हैं—'मैं बैल बनूँगा और ऊखल गाड़ी बनेगा । इस ऊखलको मैं बैलगाड़ीकी तरह खींचूँगा ।' कन्हैया ऊखलको खींचने लगे ।

दामोदर भगवान्‌ने सोचा कि 'मैं तो बन्धनमें आऊँगा, परंतु अनेक जीवोंको बन्धनसे छुड़ाऊँगा ।'

यशोदाजी पुष्टि-भक्ति (भगवत्कृपाके बलपर की जानेवाली भक्ति) हैं । पुष्टि-भक्तिके द्वारा भगवान्‌को बाँधा जा सकता है । जब भगवान् बन्धनमें आते हैं, तब जीवको मुक्ति प्राप्त होती है । जबतक ईश्वरको प्रेमसे नहीं बाँधोगे, तबतक तुम्हारा मायाका बन्धन नहीं छूटेगा । ईश्वरको प्रेमसे बाँधो ।

श्रीकृष्ण ऊखलको खींचते हुए उन दो यमलार्जुन वृक्षोंके निकट आये । उन दोनों वृक्षोंके मध्य होकर निकले । ऊखल तिरछा हो गया । पेटसे बँधी हुई डोरीके द्वारा ऊखल जब खींचा, दोनों वृक्ष गिर गये । उनमेंसे दो तेजस्वी पुरुष प्रकट हुए—

> अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ ॥
> पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात् ।
> नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ ॥
>
> (श्रीमद्भा० १० । ९ । २२-२३)

ये दोनों पुरुष नलकूबर और मणिग्रीव थे । ये दोनों यक्षराज कुबेरके पुत्र थे । इनके पास धन, सौन्दर्य और ऐश्वर्य (अधिकार) की पूर्णता थी । ये इनके मदसे मदान्ध हो गये थे । मदान्धको रास्तेपर लानेके लिये उन्हें निष्क्रिय बना देना ही एक उपाय है ।

सम्पत्तिके अतिरेकमें सद्व्यवहार नहीं रहता । सम्पत्तिका जब अतिरेक होता है, तब लोग तामस आहार करते हैं । लोगोंको मदिरा-मांसका व्यसन, स्त्रियोंका व्यसन हो जाता है । नलकूबर और मणिग्रीव सम्पत्तिके अतिरेकमें अपना संधान भूल गये हैं । प्रचुर मदिरा-पान करके गङ्गाके किनारे आये हैं । गङ्गाके पवित्र जलमें युवती स्त्रियोंके साथ जल-विहार कर रहे हैं । स्त्रियाँ नग्न हैं, स्वयं भी नग्न हैं । तीर्थमें विलासी जाता है तो वह तीर्थकी मर्यादाको भङ्ग करता है । महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने दुःखित होकर कहा है कि 'तीर्थोंमें विलासी व्यक्ति रहनेके लिये आने लगे, इसीलिये तीर्थोंसे देव पलायन करने लगे ।'

नारदजी उस मार्गसे जा रहे थे । नारदजीने यह दृश्य देखा । उनको देखकर भी नलकूबर और मणिग्रीवने वस्त्र धारण नहीं किये । नारदजीको कष्ट हुआ । कैसा सुन्दर स्वरूप प्राप्त हुआ है, फिर भी ये उसका कैसा दुरुपयोग कर रहे हैं । मानव-देह मुकुन्दकी सेवा करनेके लिये है । यह देह भगवान्‌की है ।

नारदजी कहते हैं कि "अन्तमें इस देहकी क्या दशा होती है, इसका कोई विचार नहीं करता । इसे पशु-पक्षी

खा जाते हैं या यह राखका ढेर बन जाती है। लक्ष्मीके मदमें इस नाशवान् देहको लोग अजर-अमर मानने लगते हैं और अन्य प्राणियोंसे द्रोह करते हैं।

''मुझसे कोई कहेगा कि यह शरीर किसका है ? इस शरीरपर किसका अधिकार है—यह शरीर क्या पिताका है, माताका है या अपना स्वयंका है ?

''पिता कहते हैं कि 'मेरे वीर्यसे यह उत्पन्न हुआ है, इसलिये इस शरीरपर मेरा अधिकार है।' माँ कहती है कि 'मेरे गर्भसे यह उत्पन्न हुआ है, इसलिये यह मेरा है।' पत्नी कहती है कि 'इसके लिये मैं अपने माता-पिताको छोड़कर आयी हूँ, अतएव इसपर मेरा अधिकार है। इससे मेरी शादी हुई है, मैं इसका आधा अङ्ग बनी हूँ; इसलिये यह मेरा है।'

''अग्नि कहती है कि यदि शरीरपर माता-पिता-पत्नीका अधिकार होता तो प्राण जानेके बाद वे इसे घरमें क्यों नहीं रखते ? इस शरीरपर मेरा अधिकार होनेके कारण श्मशान-पर लाकर लोग इसे मुझे अर्पण करते हैं, इसलिये इसपर मेरा अधिकार है।'

''स्यार-कुत्ते कहते हैं कि 'जहाँ अग्नि-संस्कार नहीं होता, वहाँ यह हमको खानेको मिल जाता है, इसलिये यह शरीर हमारा है।'

''इस तरह सभी इस शरीरपर अपना-अपना अधिकार बतलाते हैं। प्रभु कहते हैं, 'यह शरीर किसीका नहीं है। मैंने इसे जीवको अपना उद्धार करनेके लिये दिया है। यह शरीर मेरा है'।''

देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः।
यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः॥
(श्रीमद्भा० १० । ६३ । ४१)

संसारके मानवोंको मनुष्य-शरीर प्रभुने अत्यन्त कृपा करके दिया है। जो पुरुष इसे पाकर भी अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं करता और भगवान्‌के चरणोंका आश्रय नहीं लेता, उनका सेवन नहीं करता, उसका जीवन अत्यन्त शोचनीय है। वह स्वयं अपने आपको धोखा दे रहा है।

रामचरितमानसमें भी कहा है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥
(७ । ४३ । ३, ३½; ४४)

चालू सौ रुपयाका नोट फट गया हो, उसपर तेलके धब्बे पड़ गये हों; किंतु यदि नोटके नंबर दिखलायी देते हों तो उस नोटको कोई नहीं फेंकता। उसी प्रकार यह शरीर फट गया है, गंदा है; परंतु इस शरीरका नंबर ठीक है। इस देहसे भगवान्‌का भजन होता है, भगवान्‌के नामके जपका आनन्द तो मनुष्योंको ही मिलता है। कुत्ता-बिल्ली क्या 'रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥' कह सकते हैं ?

इस अनित्य शरीरसे नित्य परमेश्वरको प्राप्त किया जा सकता है। यह देह परमात्माके कार्यके लिये है। प्रभुने दयावश इसे दिया है। जो लोग मदान्ध हो गये हैं, उन्हें इसका कुछ भी अनुसंधान नहीं रहता। वे इस शरीरका उपयोग केवल भोग-विलासमें करते हैं।

भोग इस प्रकार न भोगो कि शरीर रोगी हो जाय। भोग इन्द्रियोंको रोगी करनेके लिये नहीं हैं, अपितु इन्द्रियोंको स्वस्थ रखनेके लिये हैं। जो केवल भोग-विलासमें ही सम्पत्ति और समयका उपयोग करते हैं, उन्हें वृक्ष बनना पड़ता है। वृक्ष भोग-योनि है।

ये दोनों यक्ष मदान्ध होकर स्त्री-लम्पट एवं अजितेन्द्रिय बन गये थे, अतएव जडत्व प्राप्त करनेयोग्य थे। इसलिये 'इन भोगियोंको वृक्षके रूपमें जन्म प्राप्त हो' नारदजीने इनको ऐसा शाप दिया।

असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमञ्जनम्।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते॥
दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह।
कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः॥
तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः।
तमोमदं हरिष्यामि स्त्रैणयोरजितात्मनोः॥
यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ।
न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ॥

अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः ।
स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । १३, १५, १९—२१)

'जो दुष्ट श्रीमदसे अंधे हो रहे हैं, उनकी आँखोंको ज्योति देनेके लिये दरिद्रता ही सबसे बड़ा अञ्जन है; क्योंकि दरिद्र ही यह देख सकता है कि दूसरे प्राणी भी मेरे-जैसे हैं। दरिद्रमें घमंड और हेकड़ी नहीं होती । वह सब तरहके मदोंसे बचा रहता है। दैववश उसे जो कष्ट उठाना पड़ता है, वह उसके लिये एक बहुत बड़ी तपस्या होती है ।

'ये दोनों यक्ष वारुणी मदिराका पान करके मतवाले और श्रीमदसे अंधे हो रहे हैं । अपनी इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले इन स्त्रीलम्पट यक्षोंका अज्ञानजनित मद मैं चूर-चूर कर दूँगा । ये लोकपाल कुबेरके पुत्र होकर भी मदोन्मत्त बने हुए अचेत हो रहे हैं । इनको इस बातका भी पता नहीं है कि हम बिल्कुल नंग-धड़ंग हैं । इसलिये ये दोनों अब वृक्षयोनिमें जानेके योग्य हैं । ऐसा होनेपर ही इनमें फिर कभी इस प्रकारकी मदान्धता नहीं आयेगी । वृक्षयोनिमें जानेपर भी मेरी कृपासे इन्हें भगवान्‌की स्मृति बनी रहेगी ।'

शाप सुनकर नलकूवर-मणिग्रीवकी बेहोशी दूर हो गयी । वे पश्चात्तापसे भरे हुए नारदजीकी शरणमें आये । तब उन्होंने कृपाकर उन्हें गोकुलमें वृक्षका शरीर दिया और कहा—

वासुदेवस्य सांनिध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते ।
वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यतः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । २२)

'दिव्य सौ वर्ष बीतनेपर तुम्हें भगवान् वासुदेवका सांनिध्य प्राप्त होगा और तब भगवान्‌के चरणोंकी भक्ति प्राप्तकर तुम अपने लोकको चले जाओगे ।'

जो विषयोंमें लिप्त रहते हैं, उन्हें अगले जन्ममें वृक्ष बनना पड़ता है । नारदजीने शाप तो दिया, परंतु संतोंका शाप या क्रोध सदैव आशीर्वाद-स्वरूप होता है। इसलिये उनको गोकुलमें वृक्षोंका जन्म मिला और भगवान्‌का सांनिध्य ।

यह शाप था या आशीर्वाद ? उद्धव-जैसे महापुरुषतक वृन्दावनमें भगवान्‌का सांनिध्य प्राप्त करनेके लिये लता-वल्लरी, पेड़-पौधे बननेकी याचना करते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ६१)

'मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावनधाममें कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि—जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ । अहा ! यदि मैं ऐसा बन गया तो मुझे इन व्रजाङ्गनाओंकी चरणधूलि निरन्तर सेवन करनेके लिये मिलती रहेगी । इनकी चरण-रजमें स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा । धन्य हैं ये गोपियाँ—जिन्होंने अपने स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेदकी आर्यमर्यादाका परित्याग करके भगवान्‌की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है, जिसे समस्त श्रुतियाँ भी अबतक ढूँढ़ते रहनेपर भी नहीं प्राप्त कर सकीं ।'

नारदका शाप अब आशीर्वादमें बदल गया । उनकी तपस्या अब पूरी हो गयी । भगवान् बन्धनमें बँधकर उनके उद्धारके लिये आ पहुँचे । उनकी गाड़ी-लीला पूरी हुई और मोक्षलीलाका आरम्भ हुआ ।

भगवान्‌के चरणका स्पर्श होते ही उन वृक्षोंसे दो सिद्ध पुरुष प्रकट हुए । अर्जुनवृक्ष बने हुए यक्षकुमार नलकूबर और मणिग्रीव अब अपने पूर्वरूपमें आ गये । प्रभुका सांनिध्य प्राप्तकर वे आमूल परिवर्तित हो गये । हाथ जोड़कर तन्मयतापूर्वक प्रार्थना करते हुए कहने लगे—

स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च ।
अवतीर्णोंऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥
अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिंकरौ ।
दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥
वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । ३५, ३७-३८)

'प्रभो ! आप समस्त लोकोंके अभ्युदय और निःश्रेयसके लिये इस समय अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंके साथ अवतरित हुए हैं। आप समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। हे अनन्त ! हम आपके दासानुदास हैं, हमारी प्रार्थना स्वीकार कीजिये। देवर्षि नारदके परम अनुग्रहसे ही हम अपराधियोंको आपका दर्शन प्राप्त हुआ है।

'प्रभो ! हमारी वाणी आपके मङ्गलमय गुणोंका वर्णन करती रहे। हमारे कान आपकी रसमयी कथामें लगे रहें, हमारे हाथ आपकी सेवामें और मन आपके चरण-कमलोंमें रम जाय। समस्त जगत् आपका निवासस्थान है। हमारा मस्तक सबके सामने झुका रहे। संत आपके प्रत्यक्ष शरीर हैं। हमारी आँखें उनके दर्शन करती रहें।'

हमारी वाणी कृष्णका कीर्तन करे, आँख हमेशा कृष्णके दर्शन करे, मन श्रीकृष्णका ध्यान करे। प्रत्येक इन्द्रियको भक्तिरस प्रदान करोगे तो इन्द्रियोंको शान्ति प्राप्त होगी। नलकूबर और मणिग्रीव प्रत्येक इन्द्रियके लिये भक्तिरसकी याचना करते हैं।

भगवान् कहते हैं—

ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना।
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः॥
साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा॥
तद् गच्छतं मत्परमौ नलकूबर सादनम्।
संजातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। ४०-४२)

'तुमलोग श्रीमदसे अंधे हो रहे थे। मैं पहले ही यह बात जानता था कि परम कारुणिक देवर्षि नारदने शाप देकर तुम्हारा ऐश्वर्य नष्ट कर दिया है और इस प्रकार तुम्हारे ऊपर कृपा की है। जिनकी बुद्धि समदर्शिनी है और हृदय जिन्होंने मुझे अर्पित कर रखा है, उन साधु पुरुषोंके दर्शनसे बन्धन होना उसी प्रकार सम्भव नहीं, जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकार नहीं रहता। नलकूबर और मणिग्रीव ! अब तुमलोग मेरे परायण होकर घर जाओ। तुमलोगोंको संसार-चक्रसे छुड़ानेवाले अनन्य भक्तिभावकी, जिसे तुम चाहते हो, प्राप्ति हो गयी।'

भगवान्‌की अभय वाणी सुनकर, प्रसन्नचित्त हो मणिग्रीव और नलकूबर—दोनोंने भगवान्‌को प्रणाम किया, परिक्रमा की और उन्हें अपने अन्तरमें सँजोये हुए अपने घर चले गये।

इस प्रकार भगवान्‌ने स्वयं बन्धनमें बँधकर अपने भक्तको बन्धनोंसे मुक्त किया। भगवान्‌की प्रत्येक लीला ऐसे ही रहस्यों भरी होती है। उनका मूल उद्देश्य अपने भक्तोंको आनन्द देना और उनको भवबन्धनसे मुक्त करना है।

अनुवादक—बालकृष्ण चतुर्वेदी

नवग्रह-वन्दना

(रचयिता—पं० श्रीजगदीशजी वाजपेयी)

जपा-कुसुम-सम महाकान्तिमय, कश्यपकी संतान।
तमके शत्रु, पापके नाशक रविको प्रथम प्रणाम॥

हिम-दधि-शङ्ख-सदृश आभायुत, क्षीर-सिन्धु-संतान।
सुधा-पूर्ण, शिवके आभूषण, हे शशि तुम्हें प्रणाम॥

धरणी-गर्भ-प्रसूत, तड़ित-सी जिसमें ज्योति महान।
शक्ति-हस्त, वसुधा-कुमार, हे मङ्गल ! तुम्हें प्रणाम॥

नवल प्रियंगु-कली-से श्यामल, अनुपम रूप ललाम।
सौम्य, सरलता-गुणसे मण्डित, बुधवर ! तुम्हें प्रणाम॥

देव तथा ऋषियोंके गुरुवर, कनक-कान्तिके धाम।
बुद्धिरूप, त्रैलोक्य-ईश, हे सुरगुरु ! तुम्हें प्रणाम॥

हिम औ कुन्द-मृणाल-कान्तिधर, असुरोंके गुरु पूज्य।
सब शास्त्रोंके विश्रुत वक्ता, कविवर शुक्र ! प्रणाम॥

नीलाञ्जन-सम-कान्ति, सूर्यसुत, यमके भाई ज्येष्ठ।
छाया औ मार्तण्ड-समुद्भव, हे शनि ! तुम्हें प्रणाम॥

अर्धगात्र, अद्भुत तेजस्वी, रवि-शशि-मर्दक नित्य।
गर्भ सिंहिकासे उपजे जो, ऐसे राहु ! प्रणाम॥

आभा मध्य पलाश-पुष्प-सम ग्रह-तारक-अवतंस।
उग्र, उग्रताके परिपोषक, सादर केतु ! प्रणाम॥

गुणार्णव श्रीराम

(लेखक—जगद्गुरु रामानुजाचार्य श्रीपुरुषोत्तमाचार्य रङ्गाचार्यजी महाराज)

[चालू वर्षके अङ्क १ के पृ० ३८ के आगे]

आश्रितरक्षोपयोगी गुण

१—धर्मज्ञः—धर्मं जानाति इति धर्मज्ञः । यह 'धर्मज्ञ' शब्दका निर्वचन है । अर्थ है—धर्मके ज्ञाता । 'धर्म' शब्दका यहाँ शरणागत-रक्षण (अपने शरणागतोंकी रक्षा करना) रूप धर्म अर्थ है । अपने इस धर्म (कर्तव्य) को जाननेके कारण श्रीराम 'धर्मज्ञ' हैं । इस विषयमें श्रीरामकी यह प्रतिज्ञा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

"एक बार भी जो यह कहकर कि 'हे राम ! मैं तुम्हारा हूँ' मेरी शरणमें आ जाता है और मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त भूतप्राणियोंसे अभय कर देता हूँ ।"

२—सत्यसंधः—सत्यसंधःका अर्थ करते हुए श्रीगोविन्दराज लिखते हैं—सत्या संधा प्रतिज्ञा यस्य सः सत्यसंधः । (अर्थात् जिसकी प्रतिज्ञा सच्ची है, वह सत्यसंध है ।) इस विषयमें भगवान् श्रीरामका कहना है—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ॥
नहि प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ।
(३ । १० । १८-१९)

'सीते ! मैं अपने प्राण छोड़ सकता हूँ, तुम्हारा और लक्ष्मणका भी परित्याग कर सकता हूँ, किंतु अपनी प्रतिज्ञाको, विशेषतः ब्राह्मणोंके लिये की गयी प्रतिज्ञाको, मैं कदापि नहीं तोड़ सकता ।'

३—प्रजानां च हिते रतः—'प्रजा' शब्दका अर्थ प्राणी है । प्रजायन्ते इति प्रजाः—जन्म लेनेवालेका नाम ही प्रजा है । समस्त प्राणियोंके हितमें निरत रहनेके कारण ही श्रीराम 'प्रजानां च हिते रतः' हैं ।

४—यशस्वी—'यशस्वी'का अर्थ है—आश्रितरक्षणैककीर्तिः । अर्थात् आश्रितोंकी रक्षा करना ही उनकी कीर्तिका मुख्य कारण है । मुख्यतया इसी गुणके कारण उनका यश सर्वत्र फैला हुआ है ।

५—ज्ञानसम्पन्नः—'ज्ञान-सम्पन्न'का अर्थ है—स्वरूपतः स्वभावतश्च सर्वविषयज्ञानवान् । श्रीराम सम्पूर्ण वस्तुओंको स्वरूप और स्वभावसे जानते हैं, अतः वे 'ज्ञानसम्पन्न' हैं । नागेशभट्टके मतमें 'ज्ञानसम्पन्न'का अर्थ है—ब्रह्मज्ञानसम्पन्नः । उनके अनुसार श्रीराम ब्रह्मज्ञानसे परिपूर्ण हैं । इसीलिये उन्हें 'ज्ञानसम्पन्न' कहा गया है । यही कारण है कि जटायुसे उसके अन्तिम क्षणोंमें श्रीराम कहते हैं—मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान् । 'मेरी आज्ञासे तुम सर्वश्रेष्ठ लोकोंमें जाओ ।' ब्रह्मज्ञको ही ब्रह्मोपदेशका अधिकार है और बिना ब्रह्मज्ञानके अनुत्तम लोकोंकी प्राप्ति असम्भव है ।

६—शुचिः—'शुचि' शब्दका अर्थ करते हुए श्रीगोविन्दराज कहते हैं—शुचिः पावनः परिशुद्धो वा । अर्थात् पवित्र करनेके कारण श्रीराम 'शुचि' हैं अथवा मनसा-वाचा-कर्मणा परिशुद्ध हैं, अतः 'शुचि' हैं ।

तिलककारके मतमें 'शुचि'का अर्थ बाह्याभ्यन्तरशुद्धियुक्तः है । अर्थात् श्रीराम बाह्य और आभ्यन्तर दोनों शुद्धियोंसे युक्त हैं । मिट्टी और जलसे बाहरकी शुद्धि होती है । भाव (मन) की पवित्रता आभ्यन्तर-शुद्धि है ।

७—वश्यः—'वश्य'का अर्थ आश्रितपरतन्त्रः है । अर्थात् श्रीराम भक्तोंके वशमें रहते हैं । श्रीमहेश्वरतीर्थके मतमें वश्यः का अर्थ यह है कि श्रीराम माता-पिता और आचार्य आदि गुरुजनोंकी अधीनतामें रहते थे ।

८—समाधिमान्—'समाधिमान्'का अर्थ है—समाधिः आश्रितरक्षणचिन्ता, तद्वान् । श्रीराम अपने भक्तोंकी रक्षा करनेमें व्यग्र रहते हैं, अतः 'समाधिमान्' हैं । भक्तोंके रक्षणकी चिन्ता ही उनकी समाधि है ।

९—प्रजापतिसमः—'प्रजापतिसमः' का अर्थ है—ब्रह्माजीके सदृश । अर्थात् श्रीराम ब्रह्माजी-जैसे हैं । तिलकटीकाकर्त्ताके मतमें 'प्रजापतिसमः' का अर्थ परमात्मा-तुल्य है । अर्थात् श्रीराम परमात्माके तुल्य हैं । श्रीराम परमात्मा ही हैं, किंतु औपाधिक भेदसे उनको परमात्माके समान कहा गया है ।

१०—श्रीमान्—श्रीमान्का अर्थ 'लक्ष्मीवान्' है । अर्थात् श्रीराम लक्ष्मीसे सदा अविनाभूत हैं । महेश्वरतीर्थके

मतमें 'श्रीमान्'का अर्थ अखण्डैश्वर्यसम्पन्न है । अर्थात् श्रीराम अखण्ड ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं ।

११-१२—धाता, रिपुनिषूदनः—'धाता' का अर्थ पोषक है । 'रिपुनिषूदन' का अर्थ—रिपून् निषूदयति इति रिपुनिषूदनः किया गया है । अर्थात् अपने भक्तोंके विरोधियोंका श्रीराम विनाश करते हैं, अतः वे रिपुनिषूदन हैं ।

प्रस्तुत १२ गुण आश्रितोंकी रक्षामें उपयुक्त होते हैं, अतः ये 'आश्रितरक्षोपयोगी गुण' कहलाते हैं ।

अवतारैकान्तगुण

अब उन गुणोंका वर्णन किया जाता है, जो केवल अवतारसे सम्बन्ध रखते हैं ।

१—रक्षिता जीवलोकस्य—रक्षिता जीवलोकस्य का अर्थ है—प्राणिमात्रके संरक्षक । अर्थात् श्रीराम जीवमात्रके संरक्षक हैं । लोकमें कई मानव अपनी भी रक्षा नहीं कर पाते, बहुत-से स्वकीय जनोंकी रक्षा करते हैं; किंतु श्रीराम तो प्राणिमात्रके रक्षक हैं ।

२—रक्षिता स्वस्य धर्मस्य—रक्षिता स्वस्य धर्मस्यके दो अर्थ हैं । इनमें एक अर्थ तो यह है कि अपने भक्तोंकी रक्षारूप विशेष धर्मके श्रीराम रक्षक हैं । दूसरा अर्थ है—तत्तद्वर्णाश्रमनिबद्धधर्मस्य रक्षिता । अर्थात् वे विभिन्न वर्णों और आश्रमोंसे सम्बद्ध धर्मोंके रक्षक हैं । आर्य राजाओंका वर्णाश्रमसे सम्बद्ध मर्यादाओंका पालन करना और कराना ही 'स्वधर्म' है ।

३—स्वजनस्य च रक्षिता—स्वजनस्य च रक्षिताकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है कि लोकमें सर्वरक्षक भी स्वजनोंकी उपेक्षा करते देखे जाते हैं, किंतु श्रीराम तो स्वजनोंकी रक्षा विशेषरूपसे करते हैं । इससे स्वजनोंकी रक्षा दुर्घट है, यह सूचित होता है ।

तिलककारके मतमें स्वजनस्य च रक्षिता का अर्थ यह है कि श्रीराम अपने भक्तजनोंके रक्षक हैं । भक्तजन ही श्रीरामके स्वजन हैं । उनकी रक्षामें वे सदा ही संनद्ध रहते हैं । इसीलिये वे 'स्वजनस्य च रक्षिता' हैं ।

श्रीराम अनेक विद्याओंके भी ज्ञाता हैं । इसके सूचक गुणोंको अब वर्णन किया जाता है ।

१—वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः—श्रीराम वेद और वेदाङ्गोंके ज्ञाता हैं । इनमें वेद चार हैं, वेदाङ्ग छः हैं । ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—ये चार वेद हैं । शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्दोविचिति—ये छः उनके अङ्ग हैं । इन सबके तत्त्वके श्रीराम ज्ञाता हैं, इनमें प्रवीण हैं ।

२—धनुर्वेदे च निष्ठितः—श्रीराम धनुर्वेदमें परिनिष्ठित अर्थात् प्रवीण हैं । श्रीगोविन्दराजका कहना है कि धनुर्वेद यहाँ चारों उपवेदोंका उपलक्षण है । चारों उपवेदोंकी गणना शास्त्रमें इस प्रकार है—

आयुर्वेदो धनुर्वेदो वेदो गान्धर्व एव च ।
वेदः शिल्पमिति प्रोक्तमुपवेदचतुष्टयम् ॥

अर्थात् आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और शिल्पवेद भेदसे उपवेद चार प्रकारके हैं । इन सबमें श्रीराम परिनिष्ठित (निपुण) हैं ।

३—सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः—सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः की व्याख्या करते हुए विद्वान् गोविन्दराजका कहना है कि श्रीराम वेदके चार उपाङ्गोंके भी ज्ञाता हैं । उपाङ्गोंकी गणना इस प्रकार है—

धर्मशास्त्रं पुराणं मीमांसा न्यायविस्तरः ।

अर्थात् धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा और न्यायशास्त्र—ये वेदके चार उपाङ्ग हैं । श्रीराम इनके भी तत्त्वके ज्ञाता हैं ।

४—स्मृतिमान्—'स्मृतिमान्'का अर्थ है—ज्ञात पदार्थकी श्रीरामको लेशमात्र भी कभी विस्मृति नहीं होती ।

५—प्रतिभानवान्—श्रीराम प्रतिभासम्पन्न हैं । श्रीगोविन्दराजके मतमें श्रुत पदार्थों और अश्रुत पदार्थोंका झटसे स्मरण हो आना ही प्रतिभान है ।

६—सर्वलोकप्रियः—'सर्वलोकप्रियः'का अर्थ श्रीगोविन्दराजने—'सर्वे लोकाः प्रियाः यस्य सः सर्वलोकप्रियः' किया है । सभी लोक हैं प्रिय जिनके, ऐसे श्रीराम हैं । अथवा श्रीराम सभी लोकोंको प्रिय हैं, अतः वे सर्वलोकप्रिय हैं ।

७—साधुः—'साधु' शब्दका अर्थ है—साध्नोति परकार्यमिति । अर्थात् जो दूसरोंके कामको साधे, सिद्ध करे, वही साधु है । 'साधु'का अर्थ शास्त्रकारोंने 'उचित' भी किया है । अर्थात् श्रीराम योग्य हैं, अतः साधु हैं । महेश्वरतीर्थके मतमें 'साधु' शब्दका अर्थ अपकारिष्वपि चोपकारशीलः है ।* अर्थात् अपकार करनेवालोंका भी उपकार करनेवाला साधु है । श्रीराममें यह महान् गुण भी है, अतः वे साधु हैं ।

---

* उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥

'उपकारीके प्रति साधुता करनेमें क्या बड़ाई है । अहित करनेवालेके साथ भी साधुताका व्यवहार करनेवाला ही सत्पुरुषोंके द्वारा साधु कहा जाता है ।'

८—अदीनात्मा—सदा प्रसन्न (प्रफुल्ल) रहनेसे श्रीराम अदीनात्मा हैं। अति गम्भीर प्रकृतिवालेको भी 'अदीनात्मा' कहते हैं। महेश्वरतीर्थके मतमें—'अतिव्यसनपरम्परायामपि अक्षुभितान्तःकरण अदीनात्मा' है। अर्थात् घोर संकटोंपर संकट आनेकी भी स्थितिमें जिसका अन्तःकरण क्षुब्ध नहीं हो, वह 'अदीनात्मा' है।

९—विचक्षणः—का अर्थ—'विचष्टे इति विचक्षणः' किया गया है। अर्थात् जो विविध प्रकारसे बोलता है, वह 'विचक्षण' है। वस्तुके तात्त्विक रहस्यको समझानेके लिये विविध प्रकारसे बोलनेवाला मानव विचक्षण कहलाता है। श्रीराममें यह गुण है। अतः वे विचक्षण हैं।

१०—सर्वदाभिगतः सद्भिः—'सर्वदाभिगतः सद्भिः' का अर्थ करते हुए श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि श्रीराम सदा सत्पुरुषोंसे आवृत (घिरे) रहते हैं।

महेश्वरतीर्थके मतमें 'सद्भिः सर्वदा अभिगतः' पदोंसे तीन सिद्धान्त निकलते हैं—१—श्रीराम परम प्राप्य हैं। २—सज्जनोंके लिये दूसरी प्राप्य वस्तु नहीं है। ३—श्रीरामको जो प्राप्त करता है, वह श्रीरामके साथ एक हो जाता है। उपर्युक्त दस गुण श्रीरामके सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात होनेके सूचक हैं।

अभिगमन-हेतुभूत गुण

अब उन गुणोंका वर्णन करते हैं, जो श्रीरामके समीप पहुँचनेमें सहायक हैं।

१—आर्यः—'आर्य' शब्दका अर्थ—'अर्य्यते इति आर्यः' है। अर्थात् अभिगमनयोग्यको 'आर्य' कहते हैं। सौलभ्य, सौशील्य और वात्सल्य आदि गुणोंके कारण श्रीराम अभिगमन (समीप जाने) के योग्य हैं। अतः वे आर्य हैं।

महेश्वरतीर्थके मतमें 'आर्यः' का अर्थ 'पूज्य' है। वेदमें 'आर्य' शब्दका अर्थ 'अर्य (ईश्वर) का पुत्र'—यह होता है। सांख्यतत्त्वकौमुदीमें वाचस्पतिमिश्रने 'आर्य' शब्दका अर्थ—'आरात् दूरे गता बुद्धिर्येषां ते आर्याः' यह किया है। अर्थात् हीन कर्मोंसे जिनकी बुद्धि दूर रहती हो, वे आर्य हैं। अथवा 'आरात् समीपं गता बुद्धिर्येषां ते आर्याः।' अर्थात् तत्त्वके समीप जिनकी बुद्धि पहुँच गयी हो, वे आर्य हैं। 'आर्य' शब्दके ये सब अर्थ श्रीराममें घटते हैं, अतः वे आर्य हैं।

२—सर्वसमः—'सर्वसमः' का अर्थ है—जाति, गुण और वर्तन (वृत्ति) आदिके कारण भेद-भाव किये बिना जो सबको समानरूपसे शरणमें लेते हैं—जातिगुणवृत्त्यादितारतम्यं विना सर्वेषामाश्रयणीयत्वे तुल्यः।

महेश्वरतीर्थके मतमें 'सर्वसमः' का अर्थ है—शत्रु-मित्र और उदासीनोंमें विषमतारहित। तिलकटीकाके मतमें 'सर्वसमः' का अर्थ है—सुख-दुःखोदर्केषु हर्षविषादरहितः। अर्थात् सुख-दुःख आदिमें हर्ष-विषादरहित होनेसे श्रीराम 'सर्वसम' हैं।

३—सदैवप्रियदर्शनः—सदा अनुभव किये जानेपर भी जो वस्तु नवीन-नवीनरूपसे भासती हो, वह सदैव प्रियदर्शन होती है। श्रीराम भी इसी प्रकार सदा अनुभव किये जानेपर भी नवीन-नवीनरूपसे भासते रहते हैं, अतः 'सदैवप्रियदर्शन' हैं।

तिलक और शिरोमणिके मतमें 'सदैवप्रियदर्शनः'का अर्थ है—सर्वावस्थासु प्रियदर्शनः। श्रीराम सब अवस्थाओंमें प्रियदर्शन हैं। किसी भी स्थितिमें अप्रियदर्शन नहीं हैं। उपर्युक्त गुण श्रीरामके समीप ले जानेमें सहायक हैं, अतः अभिगमन-हेतु गुण कहलाते हैं। अब निस्समाभ्यधिक गुणोंका वर्णन किया जाता है।

१—समुद्र इव गाम्भीर्ये—श्रीराम गाम्भीर्य-गुणमें समुद्रके समान हैं। श्रीगोविन्दराजके मतमें 'गाम्भीर्य' का अर्थ है—'स्वान्तर्गतपदार्थाप्रकाशकत्वम्' अर्थात् अपनेमें रहनेवाले भावोंको प्रकट न होने देना 'गाम्भीर्य' है।

२—धैर्येण हिमवानिव—धैर्यगुणमें श्रीराम हिमालयके समान हैं। श्रीगोविन्दराजके मतमें धैर्यका अर्थ है—'शोकहेतुसद्भावेऽपि निश्शोकत्वम्'। अर्थात् शोकजनक कारणोंके होनेपर भी निश्शोक रहना 'धैर्य-गुण' है।

३—विष्णुना सदृशो वीर्ये—वीर्य-गुणमें श्रीराम विष्णुके समान हैं। 'वीर्य' शब्दका अर्थ श्रीगोविन्दराजके मतमें 'सतत प्रगतिमें लगे रहना' है।

४—सोमवत्प्रियदर्शनः—प्रियदर्शनतामें श्रीराम चन्द्रमाके समान हैं। 'प्रियदर्शन'का अर्थ है—शोकनिवृत्तिपूर्वक आह्लादित करनेवाला।

तिलकटीकाके मतमें 'सोमवत्प्रियदर्शनः'का अर्थ—प्रजा-व्यवहार-निरीक्षण-कालमें भी सौम्यरूपसे दीखना है।

५—कालाग्निसदृशः क्रोधे—क्रोध-गुणमें श्रीराम कालाग्निके समान हैं। श्रीगोविन्दराजका कहना है कि श्रीराम अपने अपराधोंको सहन कर लेते हैं, किंतु अपने

भक्तोंके प्रति किये गये अपराधको देखकर प्रलयकालमें सर्वत्र धधकती हुई अग्निके समान हो जाते हैं।

६–क्षमया पृथिवीसमः—क्षमा-गुणमें श्रीराम पृथ्वीके तुल्य हैं। वे अपना अपराध करनेवालेपर पत्थर आदि अचेतन पदार्थोंकी तरह निर्विकार रहते हैं। अतः वे 'क्षमया पृथिवीसम' हैं।

तिलककर्ताके अनुसार क्षमया पृथिवीसमः का अर्थ है—

प्रतीकारसामर्थ्येऽपि अपकारसहिष्णुतया पृथिवीसमः।

अर्थात् अपराधियोंका प्रतीकार करनेकी सामर्थ्य होनेपर भी प्रतीकार न करना क्षमा है। अर्थात् अपकारोंका सहन करना क्षमा है। इसमें श्रीराम पृथिवीसम हैं।

७–धनदेन समस्त्यागे—'त्याग' शब्दका यहाँ 'दान' अर्थ है। 'श्रीरामायण-विषमपद-विवृति'के रचयिताके अनुसार 'धनदेन समः'का अर्थ है—

धनं ददति इति धनदाः धनदातारः तेषां अधिपतयः चिन्तामणिकल्पवृक्षप्रभृतयः तैः समः।

अर्थात् श्रीराम दानमें चिन्तामणि-कल्पवृक्ष आदिके समान हैं।

८–वीर्यवान्—श्रीराम वीर्यगुणसे सम्पन्न हैं। 'वीर्य' गुणकी व्याख्या करते हुए विद्वान् गोविन्दराज कहते हैं—जो गुण स्वयं अविकृत रहकर दूसरोंमें विकार उत्पन्न करता है, वह 'वीर्य' है—जैसे कस्तूरीका गन्ध।

९–अनसूयकः—गुणवान्के गुणोंसे अप्रसन्नता (द्वेष) न होना और मन्दगुणवान् मनुष्योंकी भी प्रशंसा करना अनसूया है। (क्रमशः)

'अब लौं नसानी'....

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

हाँ, तो नया वर्ष आरम्भ हो गया है।

नया वर्ष तो आ गया है।

पर हम जब सिंहकी भाँति पीछे मुड़कर 'सिंहावलोकन' करते हैं, तब जी बैठ जाता है।

क्या है इस सालकी कमाई !

आय-व्ययका लेखा-जोखा करनेपर यही लगता है कि घाटा-ही-घाटा है, हानि-ही-हानि है। लाभका कोई आँकड़ा रोकड़-बहीमें दिखायी ही नहीं पड़ता।

× × ×

दीवालीपर व्यापारी लोग खाते-बहियाँ बदलते हैं।

पुरानी बही उठाकर भीतर रख देते हैं। नयी बहीमें 'श्रीगणेशाय नमः' लिखकर लक्ष्मी-महारानीका पूजन करते हैं।

आशा और आकाङ्क्षा यही रहती है कि लक्ष्मी-महारानी प्रसन्न होकर हमारी तिजोरियाँ भर दें।

× × ×

और हमारी तिजोरी !

क्या हाल है उसका !

उसमें न सोना है न चाँदी। गिलट अथवा जस्ता, ताँबा अथवा पीतल, नोट अथवा चेक, हुंडी अथवा ड्राफ्ट—कुछ भी तो नहीं है।

सारा मामला ही ठन-ठन गोपाल है।

नववर्षारम्भमें श्रीरोकड़ बाकीके नामपर जमा कुछ नहीं। जो है वह खर्चके खातेमें ही पड़ा है।

× × ×

सोचा था—प्रत्येक वर्षके आरम्भमें सोचता हूँ—इस साल अच्छी कमाई करूँगा।

कैसी कमाई !

सत्यकी कमाई, प्रेमकी कमाई, करुणाकी कमाई, क्षमाकी कमाई, सहनशीलताकी कमाई, कर्तव्यपरायणताकी कमाई, सेवाकी कमाई, संयमकी कमाई, सद्गुणोंकी कमाई।

पर कमाई की कौन-सी !

कमाई की असत्यकी, घृणा और द्वेषकी, कटुता और क्रूरताकी, काम और क्रोधकी, मद और लोभकी, मोह और मत्सरकी।

× × ×

परसाल सोचा था कि इस वर्ष कम-से-कम वाणीका—वचनका संयम तो कर ही लूँगा।

अपवित्र वाणी नको माझा मुखी।

मुँहसे अपशब्द नहीं निकालूँगा।

किसीको गाली नहीं दूँगा।

किसीकी निन्दा नहीं करूँगा। आत्मप्रशंसा नहीं करूँगा।

किसीसे ऐंठकर नहीं बोलूँगा।

किसीको दुतकारूँगा नहीं।

किसीका अपमान नहीं करूँगा।

किसीपर व्यंग नहीं कसूँगा, आदि-आदि।

वचनको वशमें करनेके बाद अगले साल तन और मनको भी वशमें कर लूँगा। इस प्रकार वचन, कर्म और मन —तीनोंको पवित्र कर लूँगा।

× × ×

पर पहली सीढ़ीसे ही नीचे गिर गया। ऊपरकी तो बात ही क्या।

३६५ दिनका हिसाब आँखोंके आगे है।

वाणीका दुरुपयोग इतना ज्यादा किया है कि इस साल उसका हिसाब लगाना ही मुश्किल है।

मौका मिलनेकी देर है, झूठ बोलते मुझे देर नहीं, किसीपर व्यंग कसते मुझे देर नहीं, किसीकी निन्दा करते मुझे देर नहीं, किसीका तिरस्कार और अपमान करते मुझे देर नहीं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

गीताके इस श्लोकार्धका पाठ न जाने कितनी बार किया है; पर जहाँ मौका आता है, खटसे गाड़ी पटरीसे उतर जाती है।

और इसके गवाह?

गवाह हैं—घरमें मेरे बाल-बच्चे, सगे-सम्बन्धी, पास-पड़ोसी और दफ्तरमें हैं मेरे सहयोगी। बाजारमें हैं मेरे परिचित, यात्रा आदिमें हैं मेरे अपरिचित।

चाहे जिससे पूछ लीजिये—मेरी वाणीके दुर्गुणोंकी पूरी फेहरिस्त आपको मिल जायगी।

फितरतको नापसंद है सख्ती जबानमें।
पैदा हुई न इसलिये हड्डी ज़बानमें!

कैसी मुलायम और सुन्दर जीभ!

उसमें कड़ेपनका नाम-निशानतक नहीं।

उस मुलायम जीभसे मैं कितनी कड़ी और कड़वी बातें, जब देखो तब, निकालता रहता हूँ—देखकर आश्चर्य होता है।

× × ×

कहानी है एक सूफी फकीरकी।

जा रहे थे कहीं। देखा रास्तेमें एक आदमी पड़ा है शराबमें बुत। वे गये, कहींसे पानी ले आये।

उन्होंने पानीसे उसका मुँह धो दिया। कहा, जिस मुँहसे अल्लाहतालाका पाक नाम लेना चाहिये, उससे शराब-जैसी नापाक चीज पेटमें ले जाना ठीक नहीं।'

कहते हैं कि शराबी जब होशमें आया और लोगोंने उसे बताया कि 'शाह साहब ऐसा कहकर तेरा मुँह धो गये हैं' तो उसी क्षणसे उसका कायापलट हो गया।

शराबीसे संयमी बन गया वह।

और उधर शाह साहबको सपनेमें किसी फरिश्तेने कहा, 'तूने उस शराबीका मुँह धो दिया, अल्लाहतालाने तेरा दिल धो दिया!'

कैसी मार्मिक कहानी! काश कुछ सबक ले पाता इससे!

× × ×

पिछले सालके आरम्भमें कितने मन्सूबे बाँधे थे कि इस साल वाणीको संयममें लाकर रहूँगा; पर हुआ क्या?

तोता राम राम रटता है, पर जैसे ही बिल्ली झपट्टा मारती है कि टें-टें करने लगता है।

अपना भी वही हाल है।

पत्नी कोई बात कहती है मर्जीके खिलाफ कि बस, जबान बेलगाम घोड़ेकी तरह बेतहाशा उल्टी दिशामें दौड़ने लगती है।

बच्चे कोई बात मर्जीके खिलाफ करते हैं कि बस, आ गयी उनकी शामत। गाली-गलौज, डाँट-डपट, निन्दा और तिरस्कारका दफ्तर खोल बैठता हूँ।

मित्र हों, पड़ोसी हों, साथी हों, सहयोगी हों—उनकी टीका, उनकी आलोचना, उनकी निन्दा—इतना रस ले-लेकर करता हूँ कि बस, वे मुझपर प्रहार नहीं कर बैठते, इतनी ही गनीमत है। जिनसे वैर-विरोध है, उनके लिये तो बाणोंका तरकस ही भरा रहता है हरदम। प्रकटीकरणका कोई मौका मिलनेकी देर है।

× × ×

मतलब?

सालभरमें वाणीके माध्यमसे मैंने खूब सताया है अपनोंको, परायोंको, सगे-सम्बन्धियोंको, हित-मित्रोंको। विरोधियोंको तो सताना बुरा माना ही नहीं जाता आजके युगमें!

तो यह तो हाल है वाणीका।

अपवित्र वाणी 'नको'—नहीं निकलनी चाहिये थी मुखसे; पर ३६५ दिनमें शायद कोई एकाध दिन उससे बचा हो तो बचा हो। वर्ना असत्य और निन्दा, कटु और कठोर, तीखा और वेधक खूब बोला हूँ। व्यर्थ, अनावश्यक भी खूब बोला हूँ। बहसें भी की हैं और लोगोंका अपमान-तिरस्कार भी खूब किया है। अपने मुँह मियाँ मिट्ठू भी खूब बना हूँ।

ऐसा कोई भी तो दिन नहीं याद आता, जिस दिन मेरी जबानसे मीठी बातें निकली हों, जिनसे किसीका जी हरा हुआ हो, किसीके चेहरेपर मुस्कराहट और रौनक आयी हो!

वाणीका असंयम समय-समयपर मुझे खटका अवश्य है। कई बार लगा है कि गोरख बाबाकी यह सीख मान लेता तो कितना अच्छा होता—

गोरख कहैं—सुनो हो, अवधू!
जग में ऐसे रहणा।
आँखों देखना कानों सुणना
मुख ते कछू न कहणा॥

पर वही ऐन मौकेपर तोतेकी टें-टें।

प्रायः ही सबेरे गुनगुनाता हूँ—

पतित पावना जानकी जीवना
वेगि माझा मना पालटावें।

और—

निर्मल बाचा दे दे, राम
विमल करणी दे दे, राम॥

पर ये पद मुँहसे निकलकर ही रह जाते हैं। इन्हें आचरणमें लानेके लिये मनको पलटनेके लिये जिस तीव्रताकी जरूरत है, वह अपनेसे कोसों दूर है।

दिन हफ्तोंमें बदलते चलते हैं, हफ्ते महीनोंमें और महीने बरसोंमें; पर मन महोदय जिस शिलाका रूप धारण किये हैं, वह पसीजनेका नाम नहीं लेती।

× × ×

सूफी साधनाकी पहली सीढ़ी है—तौबा, पश्चात्ताप। पाप किया। उसकी गुरुता समझमें आयी। उसके लिये मनमें तिरस्कारकी भावना उठी। पश्चात्ताप और अनुतापकी ज्वाला धधकी कि तौबा सामने आया।

तौबा! तौबा!! तौबा!!!

अब कान पकड़ता हूँ कि आइन्दा कभी ऐसा पाप न करूँगा। अल्लाह गवाह है। अब ऐसी ग़लती फिर कभी नहीं दोहराऊँगा।

× × ×

तौबाकी भावना, प्रायश्चित्तकी भावना, अनुतापकी भावना ही पवित्रताकी पहली सीढ़ी है। इसे पार किये बिना आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता।

तौबाका अर्थ है—पापसे मुँह मोड़ लेना।

कहते हैं तौबाके प्रवेशद्वारपर लिखा है—'ऐ मुसाफ़िर! अपनी पूरी खुदीको दूर करके इस दरवाजेमें घुस।'

खुदीके रहते, 'अहं' के रहते तौबा कैसा।

× × ×

तौबा करनेके भी कई उद्देश्य हैं।

सामान्य लोग तौबा करते हैं—मालिकके क़हरसे डरकर—पापके दण्डोंसे बचावके लिये। या अल्लाह! मेरे गुनाहोंका पता नहीं, कैसा बुरा नतीजा मिले। मुझे तू उस दण्डसे बख्श दे।

इनसे ऊँचे दर्जेके लोग तौबा करते हैं मालिककी कृपा पानेके लिये।

सबसे ऊँचे लोग तौबा करते हैं इसलिये कि उनके मनमें न इस लोककी किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा रहे न परलोककी। उन्हें कोई भी वैभव-विलास नहीं चाहिये।

तौबामें मनुष्य अपने दुष्कर्मोंका स्मरण करके उनके लिये लज्जित होता है। उसके कारण उसे अपने गुणोंका अहंकार नहीं होता।

तौबासे, सच्चे पश्चात्तापसे हृदयका मैल साफ हो जाता है। मनुष्य पवित्र बनता है, प्रभुके पथकी ओर बढ़नेके लिये उपयुक्त पात्र बनता है।

असली तौबा है—अपने स्वभावको नया मोड़ देना। अपनी भूलोंके लिये सच्चे हृदयसे दुःखी होना और भविष्यमें कभी उनकी पुनरावृत्ति न होने देना।

असली तौबा है—मुझसे अब पाप होगा ही नहीं। मैं पवित्र प्रभुके मार्गका पथिक बन गया, अब कोई पाप-ताप मुझे पथभ्रष्ट नहीं कर सकता।

वही बात—

अब लौं नसानी, अब ना नसैहौं।
रामकृपाँ भव-निसा सिरानी, जागें फिर न डसैहौं॥
पायउँ नाम चारु चिंतामनि, उर-कर तें न खसैहौं॥
परबस जानि हँस्यौ इन इंद्रिन, निज-बस ह्वै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पन कै 'तुलसी' रघुपति-पद-कमल बसैहौं॥

अबतकका पुराना रिकार्ड कितना खराब है, देखकर जी बैठ जाता है। चरित्रकी सफेद चादरपर काले-ही-काले धब्बे पड़े हैं—एक-दो नहीं, सैकड़ों!

कैसे साफ होंगे?

कबीरने कैसी शानसे कहा था—

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़े,
ओढ़ कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी,
ज्यों-की-त्यों धरि दीनी चदरिया॥

पर, यह कबीरके लिये ही सम्भव था। अपने लिये तो उसकी कल्पना भी कठिन है।

× × × ×

सवाल है कि "अब लौं नसानी'का रेकार्ड आगे कैसे सुधरे!' पिछला साल तो गया, खराब-ही-खराब गया, आगे तो सुधरे।

दिनभरका भूला शामको भी घर लौट आये तो गनीमत। कितना तौबा किया, कितना रोया-धोया, पश्चात्ताप किया; पर जीवनकी गाड़ीकी पटरी वही है, वह तो उलटकर सही रास्तेपर चल ही नहीं रही है।

शबको मय खूब-सी पी, सुबहको तौबा कर ली।
रिन्द-के-रिन्द रहे हाथसे जन्नत, न गई॥

शराब पीना और फिर तौबा कर लेना!—जलाल फिर पीना और फिर तौबा कर लेना।

यह क्रम ग़लत है—सरासर ग़लत।

एक सूफ़ी फ़कीर कहता है—'मैंने सत्तर दफ़ा तौबा की। हर बार तौबा करता और फिर उसी रास्तेपर चल पड़ता। आखिर इकहत्तरवीं बार मेरा तौबा सच्चा साबित हुआ।'

यहाँ सत्तर बार तौबाकी बात ही क्या, ७०० बार भी कम है।

× × ×

जीवनका ढर्रा ग़लत है।

वाणीकी छूट ग़लत है। तन और मनकी क्रियाएँ ग़लत हैं। इन्द्रियाँ हँसती हैं। मुझे आठ पहर चौसठ घड़ी मनमाना नाच नचाती हैं और मैं ही हूँ कि उसी तरह नाचता चलता हूँ। इस तरह तो काम बनेगा नहीं।

इन्द्रियोंकी परवशताके चलते पग-पगपर ठोकरें मिलनेको ही हैं। उनसे छुटकारा हो नहीं सकता।

तब उपाय?

उपाय है वही—राम-कृपा।

× × × ×

राम-कृपासे भव-निशाका अवसान होता है। राम-कृपासे राम-नाममें रस आता है। राम-कृपासे जीवनमें पावित्र्य आता है। राम-कृपासे, रामनामसे मन और तन, वचन और विचार, कर्म और क्रियाएँ—सभी पवित्र हो जाती हैं। पर मुश्किल तो यह है कि मनीराम उसे ग्रहण करें तब न? वे तो ठहरे सैलानी। अभी काशीमें हैं तो पलभरमें लंदनमें चहलकदमी कर रहे हैं और दूसरे पल न्यूयार्ककी गगनचुम्बी अट्टालिकाओंका निरीक्षण करने लगते हैं। आँखें मूद लो तो मनीराम भीतरी दुनियामें सैर करने लगते हैं। बाहरका चक्र रोकिये तो भीतरका चक्र चालू कर देते हैं।

असली सवाल है मनीरामको राहे-रास्तेपर लानेका। वे सही राहपर आ जायँ तो जीवनको सुधरते देर न लगे।

× × × ×

सोचता हूँ कि चार रोटीसे एक और अधिक नहीं खाऊँगा। मनीराम कहते हैं। अभी तो पेट भरा ही नहीं। और देखो तो, साग कैसा बढ़िया बना है। एकाध रोटी और खा लेनेमें क्या हर्ज है। चारकी जगह आठ रोटियाँ उदरस्थ कर लेता हूँ।

सोचता हूँ सुबह चार बजे उठकर भगवान्‌का नाम जपूँ। मनीराम कहते हैं, पड़े रहो रजाईमें दुबके। बाहर

निकले कि शीतलहरीमें फँसे बिना न रहोगे। नतीजा होता है—सात, सवा सात बजे सूर्योदयके बाद रजाई छूटती है। आँख हो, नाक हो, कान हो, हाथ-पैर हों, जीभ हो, त्वचा हो, कोई भी इन्द्रिय हो—खाना-पीना हो, आराम करना हो, बात-व्यवहार हो—इन्द्रियोंका तमाशा यही है कि उनकी नकेल मनीराम अपने हाथमें रखते हैं और मैं उन्हींके इशारेपर नाचता हूँ।

यह क्रम इसी साल चला है, ऐसी बात नहीं। बचपनसे चालू है, जवानीमें इसके और भी गजब ढंग थे और अब जीवनके संध्याकालमें भी सिलसिला वही है। इसके चलते सद्‌गुणोंकी, सत्कार्योंकी कोई रोकड़जमा ही नहीं हो पाती!

× × ×

पर निराश होनेसे काम चलेगा क्या?

मनीरामके आगे घुटने टेक देनेसे काम चलेगा क्या?

नहीं चलेगा।

इसका एकमात्र उपाय है—मन-मधुकर पन कै 'तुलसी' रघुपति-पद-कमल बसैहौं।

यही आदर्श हमें तारेगा।

पिछला वर्ष गया—कोई परवाह नहीं।

इस वर्ष तो मनीरामपर सवारी गाँठनी ही है।

उसका साधन है—नाम-चिन्तामणिको 'उर-कर'में रखना; फिर पाप-ताप कहीं टिकेंगे?

काम-क्रोध-मद-मत्सर-लोभ-मोह कैसे हमला कर सकेंगे। इनका जोर तो तभीतक है, जबतक राम हृदयमें डेरा नहीं डालते।

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना।
लोभ मोह मच्छर मद माना॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा।
धरें चाप सायक कटि भाथा॥

प्रभुके पधारनेकी देर है कि मनीराम ठंडे हो जायँगे।

× × ×

प्रभुके पधारनेका उपाय है—रात-दिन उनका स्मरण और चिन्तन, उरसे भी करसे भी। रही बात प्रभु-कृपाकी, वह तो सदा-सर्वदा हम सबके सिरपर है ही। कमी है तो यही कि हम उसकी अनुभूति नहीं करते—

पल-पल के उपकार रावरे जानि-बूझि-सुनि नीकें।
मिद्यो न कुलिसहु तें कठोर चित कबहुँ प्रेम सिय-पी कें॥
(विनय० १७१)

× × ×

आइये, उन करुणा-वरुणालयसे हम प्रार्थना करें—

अन्तर मम विकसित कर
अन्तरतर हे।
निर्मल कर, उज्ज्वल कर,
सुन्दर कर हे॥

पृथ्वी किनके द्वारा धारण की जाती है?

दरिद्रा व्याधिता मूर्खाः परप्रेष्यकराः सदा। अदत्तदाना जायन्ते दुःखस्यैव हि भाजनाः॥
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्। उभावम्भसि मोक्तव्यौ गले बद्ध्वा महाशिलाम्॥
शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः। वक्ता शतसहस्रेषु दाता जायेत वा न वा॥
गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः। अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥
(स्क० मा० कुमा० २। ६८-७१)

जो दान नहीं करते, वे दरिद्र, रोगी, मूर्ख तथा सदा दूसरोंके सेवक रहकर दुःखके ही भागी होते हैं। जो धनवान् होकर दान नहीं करता और दरिद्र होकर कष्ट-सहनरूप तपसे दूर भागता है, इन दोनोंको गलेमें बड़ा भारी पत्थर बाँधकर जलमें छोड़ देना चाहिये। सैकड़ों मनुष्योंमें कोई शूरवीर हो सकता है, सहस्रोंमें कोई पण्डित भी मिल सकता है तथा लाखोंमें कोई वक्ता भी निकल सकता है; परंतु इनमें एक भी दाता हो सकता है या नहीं, इसमें संदेह है। गौ, ब्राह्मण, वेद, सती स्त्री, सत्यवादी पुरुष, लोभहीन तथा दानशील मनुष्य—इन सातोंद्वारा ही यह पृथ्वी धारण की जाती है।

पा पकरौ दिन-रात

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

एक कविने जब मुझसे इन पङ्क्तियोंका अर्थ पूछा तो मैं चकरा गया। उन्होंने कहा—

पाप करे बिनु गति नहीं, पाप करे दिन जात।
पाप करे ते हरि मिलैं, पाप करौ दिन-रात॥

मैं चक्करमें पड़ गया। रात-दिन पाप करनेसे हरि कैसे मिलेंगे! पर जरा-सा दिमागपर दबाव देनेसे बात साफ हो गयी। केवल 'पा' को अलग कर देनेसे समस्या हल हो जाती है।

पा पकरे बिनु गति नहीं

—बिना भगवान्के चरण पकड़े गति नहीं है। दिन-रात पैर पकड़कर बैठे रहें तो कल्याण हो सकता है।

हरिका चरण पकड़नेसे हम वहाँ जीवित भी जा सकते हैं, जहाँ लोग मरकर जाना चाहते हैं, पर विरले ही जा पाते हैं—

दुश्वार कुछ भी मंजिले राहे अदम नहीं।
वे जा रहे हैं, देखिये, जिनको कि दम नहीं॥

शायद इसका कारण यह हो सकता है कि हम अपने दोषोंसे अपनेको छुड़ा नहीं पाते। लिखा है—

मृग, मीन, भृंग, पतंग, कुंजर एक दोष विनास।
जो पाँच दोष असाध्य जाने, ते कि केतिक आस॥

इसी निरर्थक 'आशा' में हम सब कुछ खो रहे हैं। द्रव्य या सम्पत्ति तो जमीनमें रह जाती है, पशु आदि अपने स्थानपर रह जाते हैं, पत्नी दरवाजेतक और स्वजन श्मशानसे ही साथ छोड़कर चल देते हैं। शरीर चिताके साथ जल जाता है। परलोकके मार्गमें तो केवल धर्म ही साथ जाता है—

द्रव्याणि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि जनः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

किंतु आजकी सभ्यताकी चकाचौंधमें हम केवल मायातक ही रह जाते हैं; मायापतिको भूल जाते हैं। उपनिषद्-वाक्य है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
(श्वे० उ० ४। १०)

'प्रकृति' को माया जानो और भगवान् महेश्वरको मायाका स्वामी।'

उस मायापतिको प्राप्त करनेका उपाय ही ऊपरकी कवितामें दिया गया है—'पा पकरौ'। तैत्तिरीय आरण्यकका वचन है—

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'
(तै० आ० ३। १२)

समस्त भूत उस एक ईश्वरका पाद हैं। उस एकका चरण पकड़कर हम जीवमात्रके चरणोंमें, सबकी सेवामें अपनेको जोड़ देते हैं। सभी परमात्माके अंश हैं।

अतएव जिसने भगवान्का चरण पकड़ लिया, वह सबका सेवक हो जाता है। फिर उसमें रागद्वेष कहाँ रहेगा।

जिसका चरण पकड़ना है, वह है कौन?

ऋक्संहिताका कथन है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(ऋ० सं० म० १, सू० १२। १, २)

'जो शक्तिका ही नहीं, स्वरूपका दाता है, जिसकी उत्कृष्ट आज्ञाको सभी देवता मानते हैं, जिसकी छाया मृत्यु तथा संरक्षण अमरता है, उन सुखस्वरूप तेजोमय परमात्माको हम (त्याग) से प्रसन्न करें।'

वह शक्तिका दाता कहाँ है?

आजके बहुत पढ़े-लिखे लोग यहींसे हमारा साथ छोड़ देते हैं। वे कहते हैं—'जिस शक्तिदाताकी बात वेद कहते हैं, वह कौन है और कहाँसे आ गया? यह सृष्टि तो एक महान् सूर्य-पिण्डके टुकड़ेसे विकसित हुई है। अतः आप-से-आप बनी इस दुनियाँमें शक्तिका दाता कहाँसे आ गया।' विकासद्वारा सृष्टिकी रचना हुई है, इस सिद्धान्तके प्रतिपादक हक्सलेके पौत्र प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जूलियन हक्सलेने अभी हालमें लिखा है कि 'इस सृष्टिको—पशु-पक्षी, प्राणी, सबको बनानेवाली कोई परा शक्ति नहीं है। ईश्वरकी सत्ता समाप्त हो चुकी है। कर्त्ता या महान् शक्तिदाता नामक कोई वस्तु नहीं है।' इसका उत्तर एक अन्य विदेशी वैज्ञानिकने दिया है। उनका कहना है कि 'यह अनुमान तो लग गया कि यह पृथ्वी सूर्यपिण्डसे बनी हुई है; पर आकाश-गङ्गाके रहस्योंका ज्यों-ज्यों उद्घाटन होता जा रहा है, विज्ञानकी समझमें नहीं आ रहा है कि कितने सूर्य,

कितने लोक अभी और हैं और उनकी अथाह लीला ही साबित करती है कि एक अपार शक्ति, अगम्य रहस्य है । वही यह महाशक्ति है, जिसका नाम ईश्वर है। दूसरे, 'प्राण' के विकासका तो कोई प्रमाण नहीं मिलता। बिना प्राणदाताके प्राण आया कहाँसे ।'

विज्ञान आज जिस 'यूरेनियम' के बदौलत उद्जनबम एवं अणुबमको बना रहा है, वह किस पदार्थसे बना है—इसकी भी जानकारी उसे नहीं है । उसे इतना ही ज्ञात है कि विद्युत्-शक्ति-सम्पन्न यह वस्तु, यह पदार्थ करोड़ों-अरबों वर्षोंमें जस्ता बन गया है, किंतु किस क्रियासे—यह उसे पता नहीं है। जीव-जन्तु यदि विकाससे बने हैं तो आजके लाखों साल पहलेकी प्राप्त हड्डियाँ या वृक्षोंके अवशेष और आजके जन्तुओंमें विभिन्नता नहींके बराबर क्यों है ? कदकी बड़ाई-छोटाई तो जलवायुसे होती रहती है। फिर अनगिनत जीव-जन्तुओंके 'विकास' का इतिहास कोई आजतक न बन सका। फिर, पहले क्या बना—शहद या शहदकी मक्खी, पानीकी मछली या पानी ? क्या पानी पहले बिना जलचरके था ? एक जीव दूसरेपर ऐसा निर्भर करते हैं कि उनके अलग-अलग बननेकी कहानी ही कल्पना बन गयी है।

जार्ज मूलरने अपने जीवनभर केवल एक ही बात लोगोंसे कही और लिखी भी। वे कहा करते थे कि 'मनुष्य लाख सिर मारे, पर उसके किये कुछ नहीं होता। उसके काममें केवल एक ही वस्तु सहायक होती है—'ईश्वरमें विश्वास' तथा 'प्रार्थना ।' अनाथोंकी सेवामें मूलरने अपना जीवन लगा दिया था। उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की, 'मेरी सहायता करो।' उन्हें पाँच करोड़ रुपयोंका चंदा मिला। मूलरको जो कुछ सहायता मिली, सफलता मिली, वह 'भगवान्का चरण पकड़नेसे ।'

और इसीलिये हम कहते हैं कि महाप्रभुमें विश्वास तथा प्रार्थनामें बड़ी शक्ति है। और कुछ नहीं तो उसका पैर पकड़नेसे, 'पा पकरे ते' परलोक अवश्य बनता है।

धर्मको दैनिक जीवन और आचरणमें उतारा जाय !

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच० डी०)

धार्मिक सिद्धान्त सुननेके लिये विपुल संख्यामें श्रोताओंके झुंड-के-झुंड मन्दिरों, मठों, गिरजाघरों, गुरुद्वारों तथा धार्मिक प्रवचनोंमें एकत्रित होते हैं । वृद्ध-वृद्धाएँ, युवक और युवतियाँ—सभी, एकरस हो, तन्मयतापूर्वक धर्म-सम्बन्धी प्रवचन, भजन-कीर्तन सुनते हैं। महिलाएँ तो विशेष रूपसे धर्मके सम्बन्धमें जिज्ञासाएँ रखती हैं, धर्मकथाएँ सुनती हैं, धार्मिक साहित्यका नित्य नियमित रूपसे मनन और चिन्तन करती हैं, बड़े तड़केसे धार्मिक कार्योंमें लग जाती हैं । देशके हजारों-लाखों मन्दिरोंमें आरतीका कार्यक्रम बड़ी निष्ठापूर्वक मनाया जाता है। पर खेद है जीवनके दैनिक व्यवहारमें धर्मका उपयोग नहीं किया जाता।

धार्मिक कहलानेवाले व्यक्ति, मस्तकपर चन्दनका टीका लगानेवाले महन्त, साधु या धर्मोपदेशक जिन उपयोगी धर्मतत्त्वोंका बड़ी निष्ठाके साथ प्रतिपादन करते हैं, खेद है व्यवहारमें उन्हें नहीं लाते। वे जिन आध्यात्मिक सम्पदाओंका वर्णन करते हैं, उनपर स्वयं ही अमल नहीं करते । सेवा, त्याग, अहिंसा, प्रेम, न्याय, क्षमा, दया, सहिष्णुता आदिका माहात्म्य बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाता है; किंतु हाय ! कितने दुःखकी बात है कि ये सब कहने-सुनने मात्रकी ही वस्तुएँ रह गयी हैं। उनपर अमल नहीं किया जाता। धर्म और व्यवहारके बीच खाई आ गयी है।

धर्मशिक्षणकी वस्तु कम, व्यवहारकी अत्यधिक है। हमारे आदर्श कितने ही उत्कृष्ट और ऊँचे क्यों न हों, उनसे लाभ नहीं उठाया जा सकता, यदि उन्हें नित्यप्रतिके व्यावहारिक जीवनमें उतारनेका अवसर न दिया जाय। धार्मिक शिक्षाओं और कोरे आध्यात्मिक प्रवचनोंपर प्रायः सबका ध्यान है, उनके अनुसार कर्म और आचरणपर थोड़ोंका है । धर्मतन्त्रके अन्तर्गत काम करनेवाले विद्वान्, कथा कहनेवाले कथावाचक, महात्मा, प्रवचन करनेवाले साधु, राख लपेटनेवाले फकीर बहुत हैं; पर खेदके साथ कहना पड़ता है कि जिन सत्प्रवृत्तियोंका उपदेश वे देते हैं, उनके अनुसार आचरण करनेवाले कर्मवीर कम हैं, अपि तु यों कहिये, नगण्य हैं । यदि यह न होता तो हमारे देशमें मन्दिर और धार्मिक संस्थानोंके अनुपातमें मनुष्यके सद्गुणोंको जगाने, बढ़ाने और खिलानेका कार्य बहुत

अधिक होता । समाजमें सुसंस्कारी बहुत होते । आत्मविकासकी ओर अनेक वर्ग बहुत बढ़ जाते । आदर्शोंके जीवनमें उतर आनेसे सद्गुणोंके परिणामस्वरूप परिस्थितियाँ बिल्कुल ही बदल जातीं । खेद है कि धर्मको व्यवहारमें न लानेके कारण हमने अभीतक मनुष्यकी आन्तरिक विशेषताओंको पूरी तरह क्या, थोड़े अंशोंमें भी नहीं जगाया है । आज धर्मके कथनमें और उसके व्यवहारमें खाई चौड़ी होती जा रही है । मानवताको जीवित रखनेके लिये इस खाईको मिटाना आवश्यक है । धर्मको व्यावहारिक रूप देनेकी सर्वाधिक आवश्यकता है ।

धर्मको व्यावहारिक रूप देनेवाले अनुकरणीय फरिश्ते !

साधु होकर भी धर्मको व्यावहारिक जीवनमें उतारनेवाले अनेक सच्चे कर्मवीरों, ईश्वरभक्तों, समाजसेवियोंके अनेक उदाहरण मिलते हैं, जो प्रेरक हैं । इन लोगोंने केवल अपने कल्याण और अपनी उन्नतिकी ओर ही ध्यान नहीं दिया, वरं जन-कल्याणमें और पिछड़े हुएको आगे बढ़ानेमें भी धर्मकी उपयोगिता समझी । उन्होंने समाजसेवा और जन-उपकारको धर्मका एक अङ्ग माना । साधुओंके चिह्न—गेरुआ वस्त्र और चिमटा—चाहे उनके हाथमें न रहा हो, पर वे धर्मके बाहरी आडम्बरोंसे दूर रहकर लोकोपकारके स्थायी कार्य कर गये । इन्होंने समाजसे बहुत थोड़ा लिया; पर उसे बहुत अधिक दिया ।

हमारा धर्म हमसे सामाजिक नैतिक जागृति चाहता है । यह कार्य धार्मिक दृष्टिसे हमारे स्कूल-कालिजों और विश्वविद्यालयोंमें हो सकता है । मानसिक जागृतिकी दृष्टिसे भारतीय संस्कृतिके पुनरुत्थानके लिये ला० लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, गांधीजी, मालवीयजी आदि सभीने अपनी जिंदगी लगा दी थी । नैतिक और सांस्कृतिक उत्थानके धार्मिक विचारोंसे प्रेरित होकर इन नेताओंने अपने-अपने ढंगसे विद्यामन्दिर कई नगरोंमें स्थापित किये थे । गांधीजीने गुजरातमें विद्यापीठ स्थापित किया था, लाजपतरायने महात्मा हंसराजको साथ लेकर डी० ए० वी० कालेजोंकी नींव डाली थी, स्वामी श्रद्धानन्दजीने काँगड़ीमें गुरुकुल खोला था और मालवीयजीने वाराणसीमें हिंदू-विश्वविद्यालयका निर्माण किया था । इन सभी संस्थाओंने देशमें शैक्षणिक उत्थानके साथ धार्मिकताके भावको भी पुष्ट किया । भारतीय सभ्यता, संस्कृति और प्राचीन परम्पराओंको अक्षुण्ण बनाये रखा । ये ज्ञान-यज्ञ व्यावहारिक धर्मके प्रशस्त उदाहरण हैं । यदि ये देवदूत धर्मको अपनेतक ही सीमित रखते और केवल अपनी उन्नतिसे ही संतुष्ट हो जाते तो कभी समाजमें नूतन चेतनाका संचार न कर पाते ।

धर्म तो हमारे जीवनमें नित्य ही काममें आनेवाली पवित्र वृत्ति है । वह उर्वर है । भगवान्का नाम लेकर जो भी शुभ सात्त्विक कार्य, जो उन्नतिकी योजना हाथमें ली जायेगी, वही फलवती होगी ।

जब महामना मालवीयजी हिंदू-विश्वविद्यालयके लिये धन एकत्र कर रहे थे, तब वे अपील करते हुए प्रायः यह कहा करते थे, 'इस ज्ञानयज्ञमें हर एक अपनी शक्तिके अनुसार कुछ-न-कुछ दान दे । यदि किसी आदमीके पास देनेको कुछ भी न हो तो देनेके लिये कम-से-कम अपने हृदयकी श्रद्धासे ईश्वरका नाम लेकर गङ्गाजीसे बालूकी एक मुट्ठी ही उठाकर मेरी झोलीमें डाल दे । मैं उसे हिंदू-विश्वविद्यालयकी दीवारोंमें गारा बनाकर लगाऊँगा । सीमेन्टसे भी ज्यादा मजबूत होगी वह बालू; क्योंकि उसके पीछे धर्मकी पवित्र भावना जुड़ी हुई है ।'

इन शब्दोंमें धर्म ओतप्रोत है । धर्मको नित्यप्रतिके जीवनमें उतारकर मालवीयजीने हिंदू-विश्वविद्यालय-जैसा सरस्वतीका महान् केन्द्र खड़ा किया था । धर्मकी प्रतिष्ठा इसी दृष्टिकोणसे होती रही है । धर्म हमारे अंदर उत्कृष्ट मनोबल पैदा करता है, जिससे अच्छे कार्योंमें आनेवाली कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं ।

धर्मकी श्रेष्ठता उसके उपयोगमें है । धर्म कहता है कि आपमें जो शक्ति, उत्साह और साधन हैं, उन्हें संसारमें जो दूसरे लोग कष्ट, पीड़ा और निराशासे ग्रस्त हैं, उनकी कुछ सहायता करते हुए आत्मसंतोष और आत्मसुखका अनुभव करें । दूसरोंको आगे बढ़ाने और उठानेमें सुखका अनुभव करें । मनकी हार्दिक शुभकामनाएँ व्यवहारमें प्रकट करें । धर्म और संस्कृति इस बातका अनुमोदन करते हैं कि मनुष्य अपना और दूसरोंका उपकार करनेके लिये आया है, उसे पीड़ित मानवताकी जितनी भी बन पड़े सेवा और सहायता करनी चाहिये । व्यक्तिगत जीवनमें तो सद्गुणोंकी अभिवृद्धि करनी ही चाहिये, समाजमें भी सद्गुणोंको

प्रोत्साहन देकर शान्ति, सुव्यवस्था और नैतिकताका मार्ग प्रशस्त करना चाहिये।

धर्म वह है, जिसका व्यवहार जीवनको समुन्नत करे। आस्तिक भावनाको धारणकर अपने सामाजिक कर्तव्योंकी पूर्ति ही धर्म है। युधिष्ठिर महाराज कहते हैं—

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ।

अर्थात् जिस (समाजसेवा, लोकोपकार, उन्नतिके) मार्गको महापुरुषोंने अपनाया है, जिसपर आचरण किया है, वही धर्म है । धर्म एक ऐसा विश्वास है, जिसपर मन, वचन और कर्मसे अमल करना चाहिये । धैर्य, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि धर्मके लक्षणोंका व्यावहारिक रूपसे पालन ही धर्म है। धर्मके उपयोगके बिना मनुष्य पशुवत् है।

सिकन्दर और साधु

(लेखक—श्रीरामेश्वरजी टाँटिया)

तेईस सौ वर्ष पहलेकी बात है, यूनानी विजेता सिकन्दर तुर्की, मिस्र, ईरान आदि देशोंको रौंदता हुआ हमारे पंजाब और सिंधमें पहुँच गया। उसके साथ साठ हजार फौज थी, जिनमें प्रशिक्षित घुड़सवार, तीरंदाज और पैदल सैनिक थे। इनके पास बेहतरीन किस्मके तीर, धनुष, भाले और तरह-तरहके नये हथियार थे। वर्षों पहले यूनानसे रवाना हुआ था, कहीं भी पराजय नहीं देखी, इसीलिये मनोबल ऊँचा था ।

पंजाबमें उस समय पुरु नामका पराक्रमी और वीर राजा था। वह औरोंकी तरह सहजमें ही परास्त नहीं किया जा सका । अनेक प्रकारके छल-कपट और देशद्रोही सैनिक अधिकारियोंसे भेद लेकर सिकन्दरने उसके राज्यको जीत लिया । वहाँकी व्यवस्था करनेके बाद वह पाटलिपुत्र और वैशालीकी ओर बढ़ना चाहता था ।

इसी बीच उसने सुना कि रावीके तटपर एक त्रिकालदर्शी महात्मा रहते हैं । सिकन्दरके मनमें उनसे मिलनेकी इच्छा हुई। दूसरे दिन अपने कुछ अधिकारियों-को उन्हें बुलानेके लिये एक सुसज्जित रथके साथ भेजा। साधुके आश्रमपर पहुँचकर उन्होंने उसे सिकन्दरका संदेश सुनाया। महात्माजीने कहा—'भाई ! मैं यहाँ वनमें रहकर, जितना हो पाता है, परमात्माके चिन्तनमें लगा रहता हूँ । राजा-महाराजाओंको मुझ-जैसे व्यक्तियोंसे, भला, क्या काम।' सेनाके अधिकारी पशोपेशमें पड़ गये। सम्राट् सिकन्दर महान्‌के निमन्त्रणको आजतक किसीने अस्वीकार करनेका साहस नहीं किया था । उन्हें चिन्ता हुई कि वे अपने स्वामीको क्या उत्तर देंगे। सिकन्दरने उनके प्रस्थानके समय उनसे यह भी कह दिया था कि संन्यासीसे जोर-जबर्दस्ती न की जाय। उन लोगोंने बहुत अनुनय-विनय की, किंतु महात्माजी उनके साथ नहीं गये।

डरते-डरते सैनिक अधिकारी सिकन्दरके शिविरमें आये। सम्राट्‌ने जब सुना कि उसके आदेशकी अवज्ञा हुई, तब उसके नथुने फड़क उठे । वह महात्माको हाजिर करनेके लिये कड़ककर आदेश देनेको ही था कि उसे अपने गुरु अरस्तूकी बात याद आ गयी । बादशाहके विश्व-विजय-अभियानके पूर्व उसने बादशाहसे कहा था कि 'भारत विचित्र देश है—धन-धान्य और शौर्यसे पूरित; किंतु वहाँ वैभव माना जाता है त्यागमें, भोगमें नहीं । तुम देखोगे कि वहाँके लोग अध्यात्मचिन्तनमें अतुलनीय हैं।'

सिकन्दरने सोचा कि गुरुकी बातकी परखका अच्छा मौका है। आदेशकी प्रतीक्षामें खड़े अधिकारियोंसे गम्भीरता-पूर्वक उसने इतना ही कहा कि वह खुद ही जायगा ।

दूसरे दिन सैकड़ों घोड़े, हाथी और सैनिकोंके साथ वह महात्माजीकी पर्णकुटीपर पहुँचा। जाड़ेके दिन थे, ठंडी तेज हवा चल रही थी। वैसे भी पंजाबकी सर्दी कड़ी होती है । उसने देखा, वे सिर्फ एक लँगोटी लगाये ध्यानमें बैठे हैं । वह आगे बढ़ा और उनके बिल्कुल करीब अपने सेनापतियोंके साथ आकर खड़ा हो गया; फिर भी महात्मा-

जीका ध्यान नहीं टूटा। उनके मुखमण्डलपर ऐसी आभा दिखायी पड़ी कि विश्वविजेता सिकन्दर आत्मविस्मृत-सा खड़ा रहा। कुछ देर बाद महात्माकी समाधि भङ्ग हुई। उनके सामने भेंटके लिये लाये हुए फल-फूल, शाल-दुशाले एवं रत्नादि सोनेके थालोंमें सजाकर रख दिये गये।

महात्माजीने कहा—'भाई! ईश्वरके दिये ताजे फल मुझे वृक्षोंसे हमेशा मिल जाते हैं। माता रावी दूधके समान स्वच्छ जल पीनेके लिये दे देती है। दिनमें भगवान् सूर्य गर्मी पहुँचा देते हैं और रातमें कुटीमें जाकर वल्कल ओढ़ लेता हूँ। फिर, भला, मुझे इन चीजोंकी क्या आवश्यकता है।'

सिकन्दरने कहा—'इतनी ठंडी हवा चल रही है और आपके शरीरपर एक भी वस्त्र नहीं। हम पाँच-पाँच गर्म कपड़े पहने हुए हैं; फिर भी सर्दी लग रही है।' महात्माजी-का उत्तर था—'राजन्! यह तो अभ्यासकी बात है। जैसे आपकी नाक और मुँहको ठंड सहनेका अभ्यास हो गया है, वही बात मेरे सारे शरीरपर लागू होती है।'

सिकन्दर घुटने टेककर उनके पास बैठ गया। वह कहने लगा—'महाराज! मैंने इतने सारे देश जीते, मेरे पास अपार धन-राशि है और असंख्य दास-दासियाँ; फिर भी, न जाने क्यों, मेरे मनमें अशान्ति बनी रहती है, अधिक पानेकी लालसा मिटती नहीं।' महात्माजीने उसके ललाट-की ओर देखते हुए कहा—'युवक सम्राट्! जिसकी तृष्णा नहीं मिटी, वह चाहे कितना ही धनी हो, मनसे भिक्षुक होता है। यही बात तुमपर भी लागू होती है। अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाके आवेशमें तुमने इस छोटी-सी आयुमें कितनी महिलाओंको विधवा किया, बच्चोंको अनाथ बनाया, गाँव और खेड़े उजाड़ दिये; फिर भी तुम रहे अतृप्त ही। अब भी तुम्हारे मनमें इसी प्रकारकी भूल करनेकी प्रबल इच्छा बनी है। परंतु यह सब किस लिये? यह सारी धन-दौलत, फौज, हथियार तुम्हारे काम न आयेंगे। तुम्हारे जीवनकी घड़ीको एक पल भी नहीं बढ़ा पायेंगे।'

सिकन्दरके साथी आश्चर्य कर रहे थे कि जिसके सामने बड़े-से-बड़े पराक्रमी योद्धा राजा और सम्राट् सिर झुकाते रहे, वह आज एक मामूली फकीरसे हाथ बाँधे कह रहा है कि 'मेरा भविष्य क्या है; इसे बतानेकी कृपा करें।'

महात्माजी थोड़ी देर मौन रहे। फिर उन्होंने कहा—'ऐसा लगता है कि जीवनकी उपलब्धियोंकी सीमापर आप आ गये हैं। इस समय आपकी आयु ३३ वर्षकी है। आजसे एक सौ बीस दिन बाद आपका ऐहिक जीवन समाप्त हो जायगा। दुर्योगसे आप अपने परिवारवालोंसे भी नहीं मिल पायेंगे; क्योंकि आपकी मृत्यु रास्तेके एक गाँवमें होगी। जीवनके थोड़े-से समयको यदि आप भगवद्भजन और अच्छे कामोंमें लगा पायें तो आपको शान्ति मिलेगी। आजतक जोर-जुल्म करके बहुतोंसे लिया, अब जरूरतमंदोंको, दीन-दुखियोंको देनेका आयोजन करें। इसीमें आपका कल्याण है। यह शाश्वत सत्य है कि धन और धरती किसीके साथ जाते नहीं। मनुष्य जैसे खाली हाथ आता है, वैसे ही संसारसे चला जाता है।'

महात्माकी बातोंका कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि सिकन्दर महान् विजय-अभियानके लिये पूर्वकी ओर न बढ़कर वहींसे वापस हो लिया। महात्माजीके बताये हुए दिन उसकी मृत्यु हो जायगी, इसका एक भय-सा उसके मनपर छा गया।

कहा जाता है कि आखिरी दिनोंमें उसके मनोभावोंमें परिवर्तन आ गया। वह पहले-जैसा नहीं रह गया।

इतिहास-प्रसिद्ध है कि बैबिलनके एक गाँवमें मृत्युके दिन सम्राट्ने सभी प्रमुख दरबारियों एवं सेनानायकोंको बुलवाया और उन्हें आदेश दिया कि सभी जवाहिरात, आभूषण, हाथी-घोड़े, रथ और मेरी निजी तलवारको मृत्युके उपरान्त मेरे शवके पास सजा देना। ध्यान रहे दोनों हाथ चादरसे बाहर निकले रहें, ताकि लोग देख सकें कि विश्व-विजेता सिकन्दर अपना समस्त वैभव पृथ्वीपर छोड़कर खाली हाथों जा रहा है

युद्ध-योग

[युद्ध भी योग बन जाता है, कैसे ?]

(लेखक—आचार्य डा० श्रीबुवालालजी उपाध्याय 'शुकरत्न', एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्याचार्य)

यह सच है कि केवल युद्धसे हम अपनी मानवीय समस्याओंके अन्तिम समाधानतक नहीं पहुँच सकते और यह भी कि महाभयंकर रक्तपात, कटुता और द्वेषसे परिपूर्ण युद्ध एक भयंकर कर्म है। मैकियावलीके अनुसार'''युद्ध एक ऐसा पेशा है, जिसमें मनुष्य सम्मानपूर्वक नहीं रह सकता। यह ऐसी नौकरी है, जिसमें लाभ कमानेके लिये सैनिकको छली, लुटेरा और क्रूर बनना पड़ता है।' यहाँ पहुँचकर मनुष्य अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्वको ही कर्मकी ज्वालामें नहीं झोंक देता, प्रत्युत कभी-कभी तो राष्ट्रका सारा पौरुष ही खूनसे भरी हुई खाइयोंमें मरनेके लिये धकेल दिया जाता है, समस्त राष्ट्रकी कर्मशक्ति प्रबल वेगसे उँड़ेल दी जाती है।

किंतु जबतक लोभ, स्वार्थ, ईर्ष्या, तृष्णा और अभिमान-पूर्ण महत्त्वाकाङ्क्षा मानव-प्रवृत्तिके प्रेरक हैं, तबतक राज-नीतिक व्यवस्थाओंमें युद्धको रोक सकना अत्यन्त कठिन है। मानव-इतिहास युद्धकी कहानियोंसे भरा पड़ा है। द्वेषसे जलते हुए मन और अपनी अशुद्ध तथा असंतुलित बुद्धिद्वारा किये गये निर्णयोंके कारण, मनुष्यके अन्तर्जीवनमें होते रहनेवाला यही युद्ध शस्त्रास्त्रोंके प्रहारोंके रूपमें हमारे बाह्य-जीवनमें उतर पड़ता है। संसारकी न्याय-व्यवस्था और शान्तिको खतरेमें डालनेवाली आसुरी प्रवृत्तियों और शक्तियों-को दबानेके लिये प्रतियुद्ध भी कभी-कभी अनिवार्य हो जाता है। अन्यायका प्रतीकार मानव-सामर्थ्यका सर्वश्रेष्ठ आविष्कार है, अतः युद्ध और संघर्ष भी मनुष्य-जीवनके महत्त्वपूर्ण पक्ष बन गये हैं। नीत्सेने आग्रहपूर्वक कहा है—'युद्ध जीवनका एक पहलू है और आदर्श मनुष्य वही है, जो योद्धा है। आरम्भमें वह ऊँट-प्रकृतिवाला हो सकता है और उसके बाद शिशु-प्रकृतिवाला; पर यदि उसे पूर्णत्व प्राप्त करना है, तो मध्यमें सिंह-प्रकृतिवाला मनुष्य होना ही पड़ेगा। महाभारत-कालमें ऐसी कठोर मान्यता थी कि ब्राह्मणको यात्राके लिये और राजा अथवा क्षत्रियको युद्धके लिये तैयार रहना ही होगा। यदि वे अपने इन कर्तव्योंका पालन नहीं करते तो उन्हें गलेमें पत्थर बाँधकर जलाशयमें डुबो देना ही उचित है-—

> द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
> राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥

वैराग्यका आदर्श मानव-जीवनकी समस्याका अन्तिम हल नहीं है। शौर्य और वीरताको युद्धने ही विकसित किया है। सत्य, न्याय और राष्ट्रकी सार्वभौम प्रभुसत्ताकी रक्षाके लिये अपना बलिदान करनेवालोंके आगे समस्त राष्ट्र श्रद्धासे सिर झुकाता है। आकाशके नक्षत्रतक उनकी यशोगाथा गाते हैं। युद्ध और संघर्षकी ओर मनुष्यकी इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको नष्ट करनेके स्थानपर, उसे न्याय और मानवताके सच्चे शत्रुओंकी पहचान करा देना ही अधिक कल्याणकारी है। ऋग्वेदमें युद्धकलाका अद्भुत वर्णन है। आर्योंके रथ सौ-सौ चक्रों और ६-६ घोड़ोंवाले भी होते थे (ऋ० १६७-४)। एक ऐसे रथका वर्णन भी मिलता है, जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग—तीनों लोकोंमें चलनेमें समर्थ था। (वही ७६७-७।) एक स्थानपर वीरोंके लिये कहा गया है—'उठो, वीरो गर्वीले शत्रुके दर्पका चूर्ण कर दो। उसकी रक्षापङ्क्तिको मसलते-कुचलते हुए आगे बढ़ जाओ। तुम्हारे प्रचण्ड वेगको शत्रु सर्वथा नहीं रोक सकता। तुम अकेले ही उसे जीत लोगे।' (ऋ० १० । ८४ । ३) आर्योंका सुदृढ़ सिद्धान्त था—'न दैन्यं न पलायनम्।' इन्द्रने दुश्मनोंकी १५० सेनाओंका विनाश किया था। (ऋ० २०४-४)।

यहाँ गीतामें श्रीकृष्णका यह कथन भी ध्यान देने योग्य है—

> धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।
> (२ । ३१)

अर्थात् क्षत्रियके लिये न्याय, सत्य और धर्मके लिये युद्ध करनेसे बढ़कर अन्य कुछ भी श्रेयस्कर नहीं है।

जो दूसरोंकी देहपर, स्वत्वपर चोट न लगने दे, वही क्षत्रिय है—'क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्त्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः'—रघु०२ । ५३ (कालिदासका यह कथन बँगला-देशकी मुक्तिके संदर्भमें कितना सार्थक बन गया है!) देशकी शान्ति और सुरक्षाके लिये युद्धकी अनिवार्यता दिखानेके लिये ही

कालिदासने खुले दिग्विजयकी योजना की है। स्वर्गके खुले हुए दरवाजेकी भाँति अकस्मात् प्राप्त युद्ध भाग्यशाली सैनिकको ही मिलता है। ऐसे अवसर बार-बार नहीं आया करते। संधिके विफल हो जानेपर कुन्तीने श्रीकृष्णके द्वारा भीम और अर्जुनके पास यही संदेश भिजवाया था कि 'क्षत्राणी जिस उद्देश्यसे पुत्रको जन्म देती है, उस उद्देश्यको पूर्ण करनेका अवसर आ गया है—

यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।

(महाभारत ५। ९०। ७५)

मनुष्य-जीवनमें उपस्थित होनेवाले इस युद्धरूपी कर्मको हम किसी निश्चित पाप-पुण्यकी परिधिमें भी नहीं बाँध सकते। जब यह धर्म अर्थात् सत्प्रवृत्तियों तथा न्याय-संगत पक्षोंकी स्थापनाके लिये किया जायगा, तब पुण्य होगा और यदि वह अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाओंको दूसरोंपर लादने तथा असत्प्रवृत्तियों (अधर्म) के पोषणके लिये किया जायगा, तब अधर्म होगा।

न्याय-संगत युद्धमें सैनिकोंका मरना तो एक साधारण घटना है। व्यक्तिगत भावुकताके कारण उससे डरनेवाली बुद्धि संसारकी वस्तुस्थितिके मर्मतक नहीं पहुँचती। अन्यायका पक्ष लेनेवाले अधिक-से-अधिक दुश्मनोंको मृत्युके घाट पहुँचाना ही सैनिकका परम धर्म है। हिंसा स्वयंमें कोई धर्म-अधर्म नहीं है। उद्देश्यके आधारपर ही वह कभी धर्म हो जाती है, तो कभी अधर्म। इसलिये हिंदूधर्म कहता है कि अहिंसाके पालनसे सिद्धि प्राप्त मुनि तथा योगीको जो गति मिलती है, वही गति सम्मुख युद्धमें लड़कर मारे जानेवाले सैनिकको प्राप्त होती है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥

(महा० ५। ३३। ६१)

देश-रक्षाकी उत्कट भावनासे प्रेरित युद्धमें अपूर्व उत्साहके कारण सैनिकका देहको ही आत्मा माननेका भाव शिथिल हो जाता है, जिससे मेरा यह देह सदा बना रहे—यह अभिनिवेश भी अपने-आप छूट जाता है। इस उत्साहके ही कारण बुद्धिकी शक्तिके बहुत बढ़ जानेसे अन्तःकरणके अज्ञानरूपी आवरणके भङ्ग हो जानेपर सैनिकको योगीकी गति प्राप्त होती है। किसी विषयमें चित्तकी सर्वथा एकाग्रता हो जानेपर अन्य विषयोंका भान नहीं रहता, यही मोक्षशास्त्रोंकी तुरीयावस्था है। यहाँ एक और विशेषता है। अन्यान्य साधन बहुकालव्यापिनी साधनाके बाद साध्यतक ले जा पाते हैं, किंतु युद्ध तत्काल ही कल्याणका साधक बन जाता है।

युद्धकी नैतिकता भी शान्तिकी नैतिकतासे भिन्न होती है। दुश्मनोंके आक्रमण कर देनेपर हिंसा और रक्तपातसे मुँह मोड़ना निन्दनीय भीरुता है। सैनिक यदि सीमापर पहुँचे हुए शत्रुओंपर गोली चलाना अस्वीकार कर दे तो उसे प्राणदण्ड मिलेगा। जब अर्जुन कुरुक्षेत्रके मैदानमें झूठी शान्ति और विशाल जन-समूहके हत्याकाण्डकी कल्पनासे भीरु बन गया था, 'कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि' का संकल्प लेकर और अपने सारे जीवनको ही दाँवपर लगाकर चलनेवाले अर्जुनका मन संदेह और मोहके अँधेरेसे घिरकर टुकड़े-टुकड़े होने लगा, उसे लगा जैसे वह नीति-धर्मकी हत्या करने जा रहा है—इतना ही नहीं, युद्ध न करनेके पक्षमें उसने प्रबल युक्तियोंकी झड़ी-सी लगा दी, तब श्रीकृष्णने उसकी ढुलमुल और उथल-पुथल हुई मनःस्थितिको नपुंसकता कहकर एक ही प्रहारमें ठीक निश्चय करनेके लिये विवश कर दिया और फिर बड़ी गम्भीर और दार्शनिक विवेचनाओं तथा युक्तियोंसे मनुष्य-जीवनमें, आवश्यक होनेपर, युद्धरूपी कर्तव्यकी अनिवार्यतापर ऐसा तर्कयुक्त और मर्मपूर्ण भाषण दिया, जो विश्व-साहित्यमें आज भी अद्वितीय है।

यहीं श्रीकृष्णने अर्जुनको युद्ध-योगका उपदेश दिया है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

उन्होंने कहा कि 'जय-पराजय युद्धके बाहरी फल हैं, राज्य अथवा शत्रुद्वारा अधिकृत भूमिका लाभ-अलाभ युद्धके अवान्तर फल हैं तथा उसका अन्तिम परिणाम है—सुख-दुःख। इनको समान कर लेनेपर अर्थात् चित्तका समत्व स्थापित कर लेनेपर प्राप्त कर्तव्य करनेमें कोई पाप नहीं लगता।' यही युद्ध-योग है। जो मानव समता धारण करके द्वन्द्वोंसे नहीं हिलता और स्वस्थतासे अपने स्वधर्मका पालन करता है, वही योगमार्गका अनुसर्ता है। लगभग पाँच हजार वर्ष बाद श्रीमती इन्दिरा गांधीने १७ दिसम्बरको लोकसभामें इसी कथनको दुहराकर समचित्तता न बिगड़ने देनेके लिये कहा था—'यह स्वाभाविक है कि भारतके लोग बेहद खुश हों—मैं उस खुशी और आनन्दमें शरीक

हूँ। मगर, जैसा कि गीताने कहा है, हर्ष और शोकसे हमारी समचित्तता नहीं बिगड़नी चाहिये, हमारा भविष्य-दर्शन धुँधला नहीं पड़ना चाहिये।'

बुद्धिको निर्मल, स्थिर, निर्लेप और सम रखकर, कर्तव्य-अकर्तव्यका मूल पहचानकर युद्ध-जैसे घोर कर्मके करनेपर भी मनुष्य पतन या पथभ्रष्टताकी ओर नहीं जाता, प्रत्युत इतिहासको मोड़ देनेवाले अथवा स्वार्थोंकी दुनियामें नयी मान्यता स्थापित करनेवाले अद्भुत शौर्य और पौरुषका प्रभाव फैलाता है, जिससे जीवनकी अतितुच्छ दृष्टियाँ ऊँचाईकी ओर बढ़नेको प्रेरित होती हैं। इसके बिना दुष्टोंका विनाश और सज्जनों (साधुओं) का परित्राण सम्भव ही नहीं है। अत्याचारी दुष्ट प्राणियोंपर अहिंसा, क्षमा और दया दिखलानेका परिणाम समाजके लिये हानिकारक ही होगा। अतिदुष्ट घातक पुरुषोंको मारनेसे समाजके बहुत-से मनुष्योंकी आपत्ति दूर हो जाती है। इसीलिये राम-कृष्ण आदि अवतार-पुरुषोंके जीवन-कार्योंमें दुष्टोंका विनाश भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। गुरु गोविन्दसिंहने कहा था कि 'जब नीतिके सारे स्रोत विफल हो जायँ, उस समय तलवारको साधन बनाना ही सबसे बड़ी नीति है।'

कभी-कभी शान्तिके लिये भी युद्ध लड़ना पड़ता है। सच पूछा जाय तो शान्ति शक्तिके मूलमें ही सोती और जागती है। संसार जानता है कि महाभारत-युद्धके बाद हजारों वर्षोंतक राष्ट्रमें सुख-शान्ति बनी रही।

न्याय, सत्य और धर्मका पक्ष होनेपर सैनिकोंके मनमें एक ऐसा अजेय आत्मबल होता है, जिसे बड़े-बड़े शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित दुर्धर्ष शत्रु भी पराजित नहीं कर सकते और न दुनियाकी कोई शक्ति उसे दबा सकती है—यद्यपि युद्ध-कर्ताओंका अन्तिम लक्ष्य शत्रुका अस्तित्व मिटाना या उसके देशपर अधिकार करना नहीं होता। वे तो सत्यकी रक्षा और अन्यायके प्रतीकारके लिये लड़ते हैं। वर्तमान युद्धमें भी भारतकी प्रधान मन्त्रीकी यही घोषणा थी कि पाकिस्तानकी जनतासे हमारा कोई द्वेष नहीं है और न बँगला-देशकी जनतासे राग; हम पाकिस्तानके अस्तित्वको भी नहीं मिटाना चाहते। किंतु वहाँके बर्बर फौजी शासकोंने जो निरीह लाखों लोगोंका कत्ले आम किया है और अपार जन-समूहको भारतकी ओर धकेलकर तथा आकस्मिक आक्रमण कर हमें उसका प्रतीकार करनेके लिये युद्ध करनेकी विवशतामें पहुँचा दिया है, उसीके कारण हम युद्धको प्राप्त-कर्तव्य समझकर कर रहे हैं और विजय उसी पक्षकी होती है, जिधर सत्य, न्याय और आत्माकी निश्छल शक्ति है—

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥
(गीता १८ । ७८)

क्या सोच रहे हो ?

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

क्या सोच रहे हो ? किस दुविधामें पड़े हो, प्रभु !

होने दो मूसलाधार वर्षा। लगने दो झड़ी। पड़ने दो सूपों पानी।

देख नहीं रहे कि आशा-आकाङ्क्षाओंके जेठ-बैसाख-की चिलचिलाती हुई धूपने मेरे मनकी धरतीको बुरी तरह जला-झुलसा डाला है ? वह आकुल-व्याकुल हुई टटीरी-सी 'पानी !' —'पानी !!' पुकार रही है। अतृप्ति-ही-अतृप्तिकी लपटें उसमेंसे उठ रही हैं।

इधर तुम्हारी अहैतुकी अनुकम्पाके मेघ घटाटोप घिरे हैं—एक छत छाये हैं। तृप्ति-वारिसे पूरम्पूर भरे वे झुके पड़ रहे हैं। बरस पड़नेके लिये उतावले-बावले हो रहे हैं। उनसे, उनके सहज स्वभाववश, रुका-रहा नहीं जा रहा।

फिर देर-दार क्यों, मेरे समयेश्वर ? शुभस्य शीघ्रम् की लोकोक्ति कोई वैसे ही ठोंक-पीटकर तो नहीं गढ़ दी गयी है ? और किसी युग-युगके प्यासेकी प्यास बुझानेसे…जन्म-जन्मके अतृप्तके घर-आगे तृप्तिकी गङ्गा बहानेसे बढ़कर शुभ—श्रेयस्कर और क्या होगा ?

तो होने दो मूसलाधार वर्षा। लगने दो झड़ी। पड़ने दो सूपों पानी।

क्या सोच रहे हो ? किस दुविधामें पड़े हो, प्रभु !

बुद्धिकी अशुद्धि और शुद्धि

(लेखक—श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल)

अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'भगवन्! आपकी बात मेरी बुद्धिमें नहीं आती।' भगवान्ने कहा, 'तू अपनी बुद्धि मुझे अर्पित कर दे और फिर देख कि मेरी बात तेरी बुद्धिमें बैठती है या नहीं।'

जबतक हम बुद्धिको अपनी मानते हैं, तबतक वह बुद्धि बुद्धि नहीं, बल्कि अभिनिवेशके रूपमें रहती है और वह हमेशा यही कहता है कि मैं यही साढ़े तीन हाथका शरीर हूँ, जो देखनेमें सुन्दर एवं स्वस्थ है, जो अमुक कम्पनीका मालिक है और अमुक बेटोंका पिता है। बुद्धिमें तो कोई परिच्छिन्नता है नहीं, किंतु हम व्यवहार उस परिच्छिन्नता—संकीर्णताके कारण ही करते हैं।

अगर हम दूरबीनके द्वारा दृश्योंको देखते हैं तो दूरका पदार्थ नजदीक भासता है। इसी प्रकार मनुष्य शरीर-मन-बुद्धि आदिमें अभिनिवेश कर उसे ही अपना स्वरूप मान बैठता है; जिसके कारण उसकी सारी विचार-धारा ही संकीर्ण हो जाती है; उसका दायरा छोटा हो जाता है और वह उस दायरेके इर्द-गिर्दमें ही घूमता रहता है। फिर पारिवारिक दायरेके बाहर उसे कुछ नहीं दिखायी देता।

उस पुरुषके व्यवहारमें पक्षपात तथा भाई-भतीजावाद आ जाता है, वह सभी कार-व्यवहार शरीरके सम्बन्धको लेकर ही करता है। फिर ये जितने रिश्ते-नाते हैं, ये सब शरीरके ही कारण हैं। पर अगर कहीं बीचमेंसे शरीरको निकाल दिया जाय तो किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। पानीके तालाबमें पड़ी बूँद अपना भिन्न दायरा बना लेती है। अगर वह यह समझे कि 'मेरा अस्तित्व इस दायरेमें ही है; इससे बाहर जो जल है, वह मैं नहीं।' तो उसकी यह भयंकर भूल होगी।

अगर एक फूलका गमला यह समझे कि गमलेकी मिट्टी ही उसकी है तथा उसीमें पड़ा पानी एवं उसीसे सम्बद्ध आकाश तथा वायु ही उसके हैं तो उसकी यह परिच्छिन्नबुद्धि ही उसकी भूल है। कारण, हरेक पेड़ तथा पौधेका सम्बन्ध उस विराट्के साथ है, जिससे उसको आकाश, वायु एवं तेज आदि मिलते हैं।

जिस प्रकार यह परिच्छिन्नताकी भावना उसकी मूर्खता है, वैसे ही शरीरमें अहंबुद्धि कर लेना एक प्रकारकी नासमझी ही है।

अभिनिवेशसे ऊपर उठनेके लिये हम परमात्मासे प्रार्थना करें कि वह हमें धर्मबुद्धि दे और विवेक दे, जिससे हम धर्माधर्मका विवेक कर सकें और जो धर्म एवं यथार्थ है, वही करें। हम दान दें, पुण्य करें, इससे भी अभिनिवेश मिटता है।

बुद्धि धर्म-प्रधान हो जानेसे मनुष्यका अभिनिवेश जाता रहता है और मनुष्य जीवनकी यथार्थतामें जीने लगता है।

मनुष्यकी जिस प्रकारकी दृष्टि होती है, उसी प्रकारकी उसे सृष्टि दिखायी देती है; अगर उसकी किसीके प्रति मित्रबुद्धि है तो उसे वह मित्र और यदि शत्रुबुद्धि है तो शत्रु दिखायी देता है।

हम अपनी ही शत्रुताको किसी अन्य मनुष्यपर आरोपित-कर उसे शत्रुरूपमें देखते हैं और अपने ही रागके कारण दूसरोंको मित्ररूपमें देखना शुरू कर देते हैं। यह गुण अथवा दोषकी दृष्टि ही मनुष्यको भ्रमित करती रहती है और इसी चक्रमें मनुष्य अपना जीवन गँवा देता है।

प्रायः यह देखा गया है कि अगर हमारे मित्रके सम्बन्धमें कोई कहे कि 'वह तुम्हारी निन्दा कर रहा था' तो हमारे मित्रकी मित्रताके प्रति उसके द्वारा कराये गये भावोंके अनुसार वह शत्रु दिखायी देने लगता है, जब कि वास्तवमें न कोई मित्र है न शत्रु, अपितु हमारी ही शत्रुता तथा मित्रता शत्रु एवं मित्रके रूपमें दिखायी देती है।

आजकल देखा जाता है कि अदालतोंमें माँ-बेटी, पिता-पुत्र तथा भाई-भाईके बीच मतभेद हो जानेके कारण मुकदमेबाजियाँ शुरू हो जाती हैं। वे एक-दूसरेके निकट सम्बन्धी होते हुए भी एक-दूसरेके कट्टर शत्रु बन एक-दूसरेको देखना भी नहीं चाहते।

जो पत्नी शुरू-शुरूमें बहुत अच्छी लगती थी और जिसमें किसी समय गुण-ही-गुण दिखायी देते थे, बादमें मन

न मिलनेके कारण उसके अंदर अवगुण-ही-अवगुण दिखायी देने लगते हैं; क्योंकि हम अपनी ही बनायी दृष्टिके कारण गुण एवं अवगुण देखते रहते हैं।

हमारा देखना सही नहीं; क्योंकि बुद्धिके अंदर राग-द्वेषरूपी मलिनता रहनेके कारण हमारा देखना भी विकृत हो जाता है।

राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिये बुद्धिमें वैराग्यका होना अनिवार्य है। जिसमें वैराग्य है, उसमें रागके साथ-साथ द्वेषका भी अभाव हो जाता है; वह अपने-आपमें तटस्थ होकर जीता है।

बुद्धिमें तीसरी मलिनता है—अस्मिता, जो सूक्ष्म अहंकारके रूपमें हमारे अंदर रहती है और हमारी प्रत्येक बातमें झलकती है।

प्रायः यह देखा जाता है कि अगर हम किसीका नाम पूछते हैं तो वह केवल नाम ही नहीं बताता, बल्कि साथमें उसकी जो उपाधियाँ हैं, वह क्या काम-धंधा करता है, कितनी सम्पत्तिका मालिक है, कितने बच्चोंका बाप है—ये सब बातें भी बताने लगता है।

अपनी इस अस्मिताके कारण ही मनुष्य दूसरेके आगे अपना प्रदर्शन करता रहता है कि 'मैं भी कुछ हूँ'। हमारा चलना-फिरना, बोल-चाल एवं दूसरोंके साथ व्यवहार—सब अस्मितासे अभिभूत रहता है।

इस 'मैं' का यदि बाध कर दिया जाय तो फिर मनुष्यमें किसी प्रकारकी अहंता नहीं रह जाती। फिर मनुष्यकी बुद्धि भक्ति-प्रधान हो जानेके कारण वह कर्ता-धर्ता अपनेको न मान, परमात्माको ही सब कुछ मानने लगेगा और उसीके वैभवमें संतुष्ट रहेगा और बार-बार इन शब्दोंमें परमात्माका धन्यवाद करेगा कि 'हे परमात्मा! तुमने मुझे स्वस्थ शरीर दिया, कान, नाक एवं आँखें दीं तथा और भी जीवनकी सब सुविधाएँ दीं—इससे बढ़कर तुम्हारा उपकार मुझपर और क्या होगा?'

जब इस प्रकारकी प्रार्थना मनुष्यके हृदयसे निकलती है, तब उसका हृदय भगवद्भावसे भर जाता है।

भगवान्की प्राप्तिसे पूर्व उनके प्रति उत्कण्ठा और जिज्ञासाका तीव्रतर होना अनिवार्य है।

अगर एक प्रियतम अपनी प्रेयसीसे मिलना चाहता है तो प्रेयसी उसके हृदयमें बस जाती है, वह फिर उसीका चिन्तन करने लगता है।

इस प्रकार भगवद्भक्तिका तीव्रतर भाव जब हमारे अंदर उदय होता है, तब हम अस्मिताके जालसे छूट जाते हैं, हमारे सामनेसे अज्ञानका पर्दा हट जाता है और हम परमात्माके सम्मुख हो जाते हैं।

बुद्धिकी चौथी मलिनता है नासमझी। जैसे हम सोनेको पीतल अथवा पीतलको सोना समझ लें अथवा हीरेको पत्थर और पत्थरको हीरा समझ लें तो हम उसका सही मूल्याङ्कन नहीं कर सकते। इसके लिये तो हमें किसी सुनार या जौहरीके पास जाकर उसका मूल्याङ्कन कराना होगा; तभी हमारी सोने या हीरेके सम्बन्धमें जो नासमझी है, वह दूर होगी।

इसी प्रकार जब हम गुरुरूप जौहरीके पास जाते हैं, तब वह हमारे स्वरूपका सही मूल्याङ्कन कर देता है—वस्तुतः हम क्या हैं, इसका रहस्य बता देता है। वह हमें अज्ञानके अन्धकारसे निकाल ज्ञानके प्रकाशमें ले आता है। फिर हमारी दृष्टि यथार्थ हो जाती है। हम सहीको सही एवं गलतको गलत समझने लग जाते हैं।

घरमें कितना ही फर्नीचर हो, पर रातमें यदि वहाँ प्रकाश न हो तो वही हमारे लिये ठोकरोंका कारण बन जाता है। किंतु जब वहाँ प्रकाश हो जाता है, तब वही सब हमारे आरामका कारण बन जाता है।

नासमझी अथवा बेवकूफीका जीवन मनुष्यको दुखी करके भटकाता है और उसके लिये ठोकरोंका कारण बनता है; परंतु जब उसके हाथमें ज्ञानरूपी टार्च आ जाती है, तब उसके सहारे वह निर्भयपूर्वक कहीं भी जा सकता है।

बुद्धिमें चार ही मुख्य दोष हैं—अभिनिवेश, राग-द्वेष, अस्मिता और नासमझी।

इनसे जब मनुष्यकी बुद्धि शुद्ध होती है, तब उस बुद्धिका योग परमात्माके साथ हो जानेके कारण अज्ञानकी निवृत्ति होकर ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

प्रणामका विलक्षण प्रभाव

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशो बलम् ॥
(मनु० २ । १२१)

'जो नित्य अपने गुरुजनों एवं वृद्ध व्यक्तियोंकी सेवामें तत्पर रहता है तथा उनको प्रणाम करता है, उसकी चार वस्तुओंकी वृद्धि होती है—आयु, बुद्धि, यश तथा बल ।'

शास्त्रके इस वचनका श्रीभाईजीके जीवनमें बहुत ऊँचा स्थान था । वे अपनेसे बड़ोंको पैर छूकर प्रणाम करते थे; साधु-संतों एवं पण्डितोंको भी चरण-स्पर्श करके प्रणाम करते थे । उन्हें अपने घरमें रसोई बनानेवाले ब्राह्मणको भी पैर छूकर प्रणाम करते देखा गया है । पिता-पितामहके श्राद्धमें ब्राह्मण-भोजन होनेपर वे दक्षिणा देते समय पण्डितोंको चरण छूकर प्रणाम करते थे । अपने साथ कार्य करनेवाले तथा अपनेसे बहुत छोटी आयुवाले पण्डितोंको जब श्रीभाईजी प्रणाम करते थे, तब युवा पण्डित संकोचके मारे गड़ जाते थे; पर श्रीभाईजी आदर्शका निर्वाह अवश्य करते थे ।

प्रायः अपना प्रवचन आरम्भ करनेके पूर्व वे उपस्थित श्रोताओंको यह कहते हुए—'विश्व-ब्रह्माण्डके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्‌के नाते आप सबके श्रीचरणोंमें सभक्ति नमस्कार'—प्रणाम करते थे ।

श्रीभाईजी अपनी लाचारीकी अवस्थामें भी यथासम्भव अपने इस स्वभावका निर्वाह करते रहे । अन्तिम बीमारीके दिनोंमें गोरखपुर-स्थित पूर्वोत्तर रेल्वेके केन्द्रीय अस्पतालके सर्जरी विभागके डी० एम० ओ० श्रीशर्माजी विशुद्ध प्यारके नाते श्रीभाईजीको देखने आते थे । एक दिन श्रीभाईजीका दर्शन करने, उन्हें प्रणाम करनेके लिये उनकी वयोवृद्ध माताजी उनके साथ आयीं । डाक्टर साहबने कमरेमें प्रवेश करते ही हाथ जोड़कर श्रीभाईजीको प्रणाम किया । श्रीभाई-जीने उनके प्रणामका उत्तर 'प्रणाम' कहकर दिया । जब डाक्टर साहबकी वृद्धा माताजी श्रीभाईजीको प्रणाम करने लगीं, तब भाईजी बड़ी ही विनम्रतासे बोले—'माताजी ! आप तो मेरी माँ हैं । मैं आपको प्रणाम करूँगा, आपका आशीर्वाद लूँगा ।' माताजी श्रीभाईजीकी इस विनय-भरी भावनासे मुग्ध हो गयीं और वे प्रणाम न करके आगे बढ़ गयीं श्रीभाईजीका प्रणाम स्वीकार करने । श्रीभाईजीने चारपाईसे झुककर माताजीका चरण-स्पर्श करके उन्हें प्रणाम किया । माताजी वृद्ध हैं, पर वे आयुमें श्रीभाईजीसे छोटी हैं तथा वे श्रीभाईजीके प्रति श्रद्धा रखती हैं और उसी भावसे वे श्रीभाईजीको प्रणाम करने पधारी थीं; पर स्वजनकी माँ अपनी माँ है और माँ सदा प्रणम्य है—इस आदर्शका निर्वाह श्रीभाईजी कैसे न करते । डाक्टर साहब तथा उपस्थित सभी व्यक्ति श्रीभाईजीके इस व्यवहारसे मुग्ध हो गये कि इतने बड़े होकर भी ये माताजीका चरणस्पर्श कर उन्हें प्रणाम करते हैं और वह भी अपनी लाचारीकी अवस्थामें । लेटे-लेटे हाथ जोड़कर प्रणाम कर लेना ही पर्याप्त था, पर श्रीभाईजीने चारपाईसे झुककर प्रणाम करनेमें ही संतोष अनुभव किया ।

श्रीभाईजीको अनुभव हो गया कि उनके इस प्रकार विवशताकी स्थितिमें चारपाईसे झुककर प्रणाम करनेसे डाक्टर साहब तथा अन्य व्यक्तियोंका हृदय भर आया है । अतएव वे अपने इस व्यवहारका औचित्य बताते हुए बोले—गुरुजनोंको प्रणाम करना हमारी संस्कृतिका प्रधान तत्त्व है । 'प्रणाम' की क्रियाने महाभारत-युद्धके परिणामको बदल दिया । कथा इस प्रकार है—कुरुक्षेत्रका युद्धस्थल है । कौरव-पाण्डवोंकी सेना युद्धके लिये प्रस्तुत है । युद्ध-आरम्भका संकेत प्राप्त करते ही अस्त्र-शस्त्र चलानेको सब उद्यत हैं । ऐसे गम्भीर समयमें युधिष्ठिर अपना कवच तथा अस्त्र-शस्त्र उतारकर रख देते हैं और नंगे पाँव कौरवोंकी सेनाकी ओर प्रस्थान करते हैं । वे अपने हाथोंसे भाइयोंको संकेत करते हैं कि 'तुमलोग भी ऐसे ही मेरे साथ हो जाओ ।' दोनों ओर सन्नाटा छा जाता है; सब हतप्रभ हो जाते हैं कि यह क्या हो रहा है । क्या युधिष्ठिर युद्धसे भयभीत होकर क्षमा-याचना करनेके लिये आगे बढ़े हैं ? पर सब देख रहे हैं कि दोनों सेनाओंको चीरते हुए युधिष्ठिर भीष्मपितामहके सम्मुख पहुँच जाते हैं । भीष्मपितामह उस युद्धके प्रधान थे । युधिष्ठिरने दादाजीके चरणोंपर अपना मस्तक टेककर कहा—'दादाजी ! मैं युधिष्ठिर अपने भाइयोंसहित आपको प्रणाम करता हूँ ।' भीष्मपितामहने कहा—'बेटा ! तुम्हारी जय हो ।' युधिष्ठिर पूछते हैं—'दादाजी ! आपके रहते हमारी जय कैसे होगी ?' भीष्मपितामहने कहा—'बेटा ! तुम आ गये, इसलिये तुम्हारी जय होगी ।

यदि नहीं आते तो मैं तुम्हें शाप दे देता और तुम्हारी हार हो जाती। बेटा! तुम ठीक कहते हो—जबतक मैं लड़ता रहूँगा, तबतक मुझपर विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं है। मैं बेईमानी भी नहीं करूँगा कि अपने पूरे कौशलका प्रयोग न करूँ। फिर भी तुम्हारी जीत होगी। युद्धमें जब मुझे कोई पराजित न कर सके, तब तुम मेरे पास आना। मैं अपने पराजित होनेका उपाय तुम्हें बता दूँगा।'

यही हुआ। युधिष्ठिर भीष्मपितामहसे उनके पराजित होनेका उपाय पूछने गये और उन्होंने स्पष्ट बता दिया—'शिखण्डी जन्मके समय स्त्री था, पीछे इसका लिङ्ग-परिवर्तन हो गया। स्त्रीपर शस्त्र नहीं चलाया जाता—यह आर्य-मर्यादा है। अतएव इसे आगे रखकर अर्जुन युद्ध करे और मैं पराजित हो जाऊँगा। कारण, मैं अस्त्र-शस्त्रका प्रहार बंद कर दूँगा।' वैसे ही किया गया और भीष्मपितामह-जैसे अजेय महारथी पराजित हो गये।

इसके पश्चात् युधिष्ठिर गुरु द्रोणाचार्यके पास पहुँचे। गुरु द्रोणाचार्य युद्धकलाके आचार्य थे और कौरव-पाण्डवोंको युद्धकलाकी शिक्षा आपने ही दी थी। गुरु द्रोणाचार्यके पास पहुँचकर युधिष्ठिरने अपना नाम लेकर उन्हें प्रणाम किया। गुरु द्रोणाचार्यने कहा—'बेटा! तुम्हारी जय हो।' प्रश्न हुआ—'आपके रहते कैसे जय होगी?' बताया—'मैं ब्राह्मण हूँ। मुझमें क्षत्रियों-जैसा धैर्य नहीं। अतएव युद्धस्थलमें मुझे कोई गम्भीर शोक-समाचार सुना देगा तो मेरा धीरज जाता रहेगा और मैं सरलतासे पराजित हो जाऊँगा।' आगे चलकर यही किया गया। गुरु द्रोणाचार्यके पुत्रका नाम था अश्वत्थामा। एक हाथीका भी यही नाम था। हाथीको मार डाला गया और स्वयं धर्मराज युधिष्ठिरने द्रोणाचार्यके पास जाकर उन्हें सूचना दी—'अश्वत्थामा हतः।' इतना कहनेके साथ ही युद्धके बाजे बड़े जोरसे बजा दिये गये। युधिष्ठिरने अपने सत्यकी रक्षा करनेके लिये आगे कहा—'नरो वा कुंजरो वा'। पर ये शब्द गुरु द्रोणाचार्यको सुनायी न पड़े। एक तो बहुत धीरे कहे गये थे, दूसरे रणके बाजे बड़े जोरसे बज रहे थे। गुरु द्रोणाचार्यने इस संवादसे यह अर्थ लिया कि उनका पुत्र अश्वत्थामा मारा गया और वे पुत्र-शोकमें विह्वल हो गये। इसी अवस्थामें उनपर अस्त्र छोड़ा गया और वे पराजित हो गये।

इसके पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर कृपाचार्यके पास पहुँचे और उन्होंने वैसे ही उन आचार्यके चरणोंमें प्रणाम किया। कृपाचार्यजीने आशीर्वाद दिया—'बेटा! तुम्हारी जय हो।' प्रश्न हुआ—'आपके रहते कैसे जय होगी?' कृपाचार्यने बताया—'मैं युद्धमें लड़ूँगा नहीं; युद्ध-स्थल छोड़कर विरक्त जीवन-व्यतीत करूँगा।' उन्होंने वैसा ही किया।

अन्तमें धर्मराज युधिष्ठिर अपने मामा शल्यके पास पहुँचे और उन्हें भी उन्होंने चरण छूकर प्रणाम किया। मामाजीने आशीर्वाद दिया—'बेटा! तुम्हारी जय हो।' प्रश्न हुआ—'आपके रहते हमारी जय कैसे सम्भव है?' मामाजीने उत्तर दिया—'भीष्मपितामहके गिर जानेपर कर्ण सेनापति होंगे। अर्जुनके साथ उसका युद्ध होगा। उसकी प्रतिज्ञा है कि वह अर्जुनके अतिरिक्त अन्य किसीसे युद्ध नहीं करेगा। अर्जुनके सारथि श्रीकृष्ण हैं। अतएव कर्णको उनके समान अश्व-संचालनमें पटु सारथि चाहिये। मैं इस कलाका पण्डित हूँ। श्रीकृष्णकी तुलनामें यदि कोई टिकनेका साहस कर सकता है तो वह मैं ही हूँ। कर्ण मुझे अपना सारथि बनानेकी माँग रखेगा। मैं उसकी प्रार्थना स्वीकार कर लूँगा, पर इस शर्तपर कि मैं सारथि-अवस्थामें कर्णको कुछ भी भला-बुरा कहूँ, कर्ण उसे सुनता रहेगा, प्रत्युत्तर नहीं देगा। बस, उस समय मैं कर्णका आत्मबल कम करूँगा और आत्मबल ही योद्धाका प्राण है। कर्णका आत्मबल कम होगा और इस प्रकार उसपर अर्जुन विजय प्राप्त करनेमें सफल होगा।'

आगे चलकर ऐसा ही हुआ—सारथिके रूपमें शल्य बराबर कर्णका उत्साह भङ्ग करते रहे—'कहीं शशक सिंहसे युद्ध कर सकता है? अर्जुनके सामने तुम शशक हो'—आदि-आदि व्यंग करते रहे। बार-बार इस प्रकारकी विपरीत बातें सुननेसे कर्णके मनकी दृढ़तामें कुछ अन्तर आया और अर्जुन उन्हें पराजित करनेमें सफल हो गये।

इस प्रकार महाराज युधिष्ठिरके प्रणाम करनेकी क्रियाने महाभारतके अन्तिम परिणामको बदल दिया, अन्यथा कौरवों-पर विजय पाना पाण्डवोंके लिये असम्भव-सा था।

(२)

आदर्श शिक्षक

सन् १९२५–२६ की बात है। गुजरातमें चरोतर क्षेत्रका एक युवक विद्यार्थी 'डेकन एज्युकेशन सोसायटी, कालेज पूना'में दाखिल हुआ। वह इंटर साइन्सका विद्यार्थी था। दूसरे ही दिन प्रातः छः बजे उसे प्रयोगशालामें बुलाया गया। जब वह प्रयोगशालामें पहुँचा, उसने देखा एक कोनेमें एक आदमी सफाई कर रहा है। उस विद्यार्थीकी

मेजपर अभी आवश्यक सामान नहीं रखा गया था। अतः उसने अपने गुजरात-विद्यालयकी आदतके अनुसार सफाई करनेवाले व्यक्तिको पुकारते हुए कहा—'जरा यहाँ तो आओ और देखो, सामने पड़ी हुई टेस्ट ट्यूब भी लेते आना।'

सफाई करनेवाले व्यक्तिके कानमें यह आवाज पड़ते ही वह आवश्यक वस्तुएँ लेकर विद्यार्थीके सम्मुख आ खड़ा हुआ। विद्यार्थीने उस व्यक्तिपर दृष्टि डाली और वह भौंचक्का-सा रह गया। उसने देखा—उसके आदेशपर आवश्यक वस्तुएँ लेकर आनेवाले व्यक्ति उस कालेजके वाइस प्रिंसिपल और रसायन-शास्त्रके सुविख्यात अध्यापक प्रोफेसर कोल्हटकर थे। प्रोफेसर कोल्हटकर उस विद्यार्थीकी परिस्थिति जान गये। उन्होंने उस युवकको कुछ भी विचार न करनेको कहा तथा प्रोत्साहित किया कि वह अपना काम करता रहे। पर प्रोफेसर कोल्हटकरकी इस विनम्रताने विद्यार्थीको ऐसी शिक्षा दी कि उसने फिर जीवनभर किसीको इस प्रकार आदेश नहीं दिया।

प्रोफेसर कोल्हटकर उस शिक्षा-संस्थाके 'स्वयंसेवक' थे। मामूली वेतन लेकर वे रात-दिन कार्यरत रहते थे। संस्थापर अधिक आर्थिक बोझ न पड़े, इस हेतुसे वे सुबह पाँच बजे प्रयोगशालामें आ जाते थे और सब चीजोंको साफ करके प्रयोगके लिये व्यवस्थित कर देते थे। विद्यार्थियोंकी प्रथम टोली सुबह छः बजे आती थी। बारह बजेतक प्रयोग चलते थे। फिर आधे घंटेमें भोजनादिसे निवृत्त होकर श्रीकोल्हटकर कालेजमें व्याख्यान देनेके लिये हाजिर हो जाते थे।

'कम खर्च, उत्तम काम'—यह प्रोफेसर कोल्हटकरका जीवन-मन्त्र था। इंटर साइन्स कालेजके बड़े कक्षमें ४५० विद्यार्थी बैठते थे। पूर्ण शान्तिके वातावरणमें वे व्याख्यान देते थे। उनके व्याख्यानमें एक भी विद्यार्थी गैरहाजिर नहीं होता था। रातके बारह बजेतक वे अभ्यास-कक्षमें बैठकर अगले दिनका व्याख्यान तैयार करते थे।

इसके अतिरिक्त प्रोफेसर कोल्हटकर विश्वविद्यालयकी सेनेट, सिंडिकेट और अन्य समितियोंमें भी कार्यरत रहते थे, किंतु वे अपने शिक्षणकार्यमें क्षति नहीं पहुँचने देते थे। उन्होंने खद्दरका एक कोट बनवा रखा था। सत्रके प्रारम्भसे यही एकमात्र कोट पहिनकर वे अध्यापन करते थे। रविवारके दिन थोड़ा समय मिलनेपर उसी कोटको धो-सुखाकर फिर उसको पहन लेते थे। उनकी आर्थिक परिस्थितिसे विद्यार्थीलोग अपरिचित न थे। अतः उन्होंने बड़ा विनयपूर्ण एक प्रार्थना-पत्र लिखकर उनके पास भेजा कि 'हम सभी विद्यार्थी मिलकर एक अच्छा कोट खरीदकर आपको भेंट करना चाहते हैं। कृपया आप उसकी अनुमति हमें दें।' प्रार्थना-पत्र मिलते ही प्रोफेसर कोल्हटकरने विद्यार्थियोंको बुलाकर कहा—'मित्रो! आपलोगोंकी भावनाके लिये मैं कृतज्ञ हूँ; किंतु मेरा कोट अभी फटा नहीं है और जब एक ही कोटसे काम चल सकता है, तब दूसरे कोटकी क्या आवश्यकता है। किंतु यदि आपलोगोंके पास कुछ पैसे हों तो उतने पैसे मुझे दे दीजिये। इस संस्थाको अभी कुछ पैसोंकी आवश्यकता है। आपके पैसोंसे प्रयोगशालाके लिये कुछ उपकरण खरीदे जायँगे। आपलोगोंके पैसे संस्थाके दानमें जमा किये जायँगे।'

प्राध्यापकके त्याग और समर्पण-भावनासे विद्यार्थीलोग दंग रह गये। गुजराती विद्यार्थी तो आश्चर्यचकित रह गया। उसके आश्चर्यकी सीमा नहीं रही, जब कुछ दिनों बाद उसने सुना कि उसके साथ पढ़नेवाला कोल्हटकर विद्यार्थी प्रोफेसर कोल्हटकरका पुत्र है तथा वह कक्षामें छः बार रसायनशास्त्रमें अनुत्तीर्ण हो चुका है। प्रोफेसर कोल्हटकर उस विभागके सर्वेसर्वा थे, परंतु उन्होंने अपने पुत्रको छः बार अनुत्तीर्ण होने दिया, उसकी अयोग्यतापर उसे आगेकी कक्षामें जानेसे रोक दिया।

वह गुजराती विद्यार्थी आज एक अच्छे डाक्टर हैं और वे अपने गुरुदेव प्रोफेसर कोल्हटकरकी पावन-स्मृतिके रूपमें सादगी, निष्ठा एवं सेवाभावनाको अपनाये हुए हैं।

'अखण्ड आनन्द' —ईश्वरभाई पटेल

(३)

ईमानदारी

हमारे दादाजीने सन् १९३२-३३ में आर्थिक दशा खराब होनेके कारण सौ रुपयेमें अपना खेत गिरवी रख दिया। उस बातको अब चालीस वर्षके लगभग हो चुके थे। गिरवी रखनेके कोई कागज-पत्र हमारे पास नहीं थे। दोनों पक्षके लेन-देन करनेवाले मर चुके थे। मेरे कुटुम्बमें मेरी दादी जीवित थी। एक दिन उन्होंने मुझे अपने पास बुलाकर कहा—'बेटा! अपने घरके पीछे जो मनुभाई रहते हैं, उनके पिताके पास तुम्हारे दादाजीने अपना एक एकड़ खेत गिरवी रखा था। अगर वह खेत छूट जाय तो उसकी आमदनीसे मेरी रोटी निकल आयेगी और तेरे सिरका बोझा हल्का हो जायगा। तुझे तीन सौ रुपये वेतन मिलता है। खेत मिल जानेसे घरकी आमदनी कुछ और बढ़ जायगी तथा गुजर-बसर शान्तिपूर्वक होने लगेगी।'

मैं सोचने लगा—वर्षों पुरानी बात है। न मेरे दादाजी मौजूद हैं और न मनुभाईके पिताजी ही जीवित हैं। दूसरे इस बातका कोई गवाह भी नहीं है। ऐसी स्थितिमें किस आधारपर मनुभाईसे इसकी चर्चा की जाय।

आखिर एक दिन दादीके आग्रहसे तंग आकर मुझे मनुभाईके पास जाना पड़ा। मैंने उनसे खेतके सम्बन्धमें बात चलायी। मनुभाई न्यायमूर्ति निकले। उन्होंने कहा—"भाई! तुम्हारी बात बिल्कुल सही है। मेरी माँ मुझे बार-बार कहती थीं—'यह खेत तो हमें सिर्फ सौ रुपयोंमें मिला है।' प्रभु-कृपासे आज हमलोगोंकी आर्थिक स्थिति ठीक है। अतः तुम्हारा खेत तुम्हें अवश्य वापस देना है। परंतु इस सम्बन्धमें मैं अपने भाइयोंसे सलाह कर लूँ।"

दूसरे दिन मनुभाईने अपने भाइयों एवं परिवारके सभी छोटे-बड़े सदस्योंको एकत्रित करके उस खेतके सम्बन्धमें परामर्श किया। सभीने एक स्वरसे यह निर्णय किया—'हमलोगोंने इतने वर्षोंमें उस खेतसे अच्छा उत्पादन प्राप्त कर लिया है। अतः सिर्फ सौ रुपये लेकर हमें उस खेतको सूरजमाँके नाम कर देना चाहिये।'

निर्णयके अनुसार हमारे पड़ोसी श्रीरामभाईकी साक्षीमें रुक्केमें भरपाई लिख रुक्का खेतके साथ हमारे सुपुर्द कर दिया गया। दादीने जब इस रुक्केको अपने पुराने संदूकमें रखा तो उसकी आँखोंमें आँसू झलक रहे थे। —धीरज ब्रह्मभट्ट

(४)

सरल हृदयकी प्रार्थना भगवान् सुनते हैं।

कुछ दिनों पहले हमारे एक सम्बन्धी कुछ अस्वस्थ थे। मानसिक दुर्बलताने उनको इतना अधिक ग्रस्त कर लिया था कि वे अक्सर घरसे भाग जानेकी धमकियाँ दिया करते थे। एक दिन सुबह सात बजे वे नित्यकी भाँति टहलनेके लिये निकले और शामतक घर नहीं लौटे। उनके परिवारवाले अत्यन्त चिन्तित हो उठे। रात्रिके साढ़े सात बजे उनके दो-तीन निकटके सम्बन्धी अपने अन्य रिश्तेदारों और परिचितोंके घर पता लगाते हुए हमारे घर भी आये। उनकी घबराहट एवं अधीरताका हमारे घरके सभी सदस्योंपर प्रभाव पड़ा। घरका वातावरण अशान्त-सा हो उठा। उन लोगोंकी उद्विग्नताने मेरी पाँच वर्षकी तथा साढ़े छः वर्षकी दो पुत्रियों-को बहुत प्रभावित किया। उन लोगोंके जानेके बाद दोनों पुत्रियोंने प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी। मैंने उनकी उत्सुकताको शान्त करनेके लिये सारी बातें बतला दीं। जो सज्जन घरसे निकले थे, वे दूरके रिश्तेमें बच्चियोंके मौसाजी लगते थे। पूरी बात सुनकर दोनों बहिनें बहुत ही चिन्तित हो उठीं। बड़ी लड़कीने उनके घरवालोंकी मनःस्थिति और व्यथाका भी अनुभव किया और कहने लगी—'मेरा मन करता है कि मैं मौसाजीके घर चली जाऊँ और उन लोगोंसे कह दूँ कि तुम-लोग दुःख मत करो, भगवान्का नाम लो, मौसाजी आ जायँगे।' पर उनका घर काफी दूर होनेसे यह सम्भव नहीं था और उचित भी नहीं था। इन नन्ही-नन्ही बच्चियोंकी बात उस चिन्तातुर घरमें कौन सुनता। वास्तवमें जितनी गम्भीरता और वेदनाके साथ मेरी बच्चियोंने इस घटनाको महसूस किया था, उतनी समवेदना मेरे हृदयमें नहीं थी। मैंने उनको इस चिन्तासे मुक्त करनेके लिये कहा—'अच्छा, छोड़ो इस बातको। अब चलो, तुम दोनों खाना खाकर सो जाओ।' पर उन दोनोंने भोजन करनेकी अनिच्छा प्रकट की तथा सो जानेसे इन्कार कर दिया।

उन्हें वहीं छोड़ मैं कुछ कार्यवश दूसरे कमरेमें चली गयी। कुछ देर बाद जब मैं लौटी तो वहाँका दृश्य देखकर अवाक् रह गयी। दोनों बहिनें हाथ जोड़कर आँखें बंद किये बैठी थीं और भगवान्से प्रार्थना कर रही थीं कि मौसाजी शीघ्र लौट आयें। छोटी लड़की जो अपने नटखटपन और उच्छृङ्खलताके लिये प्रसिद्ध है, उसकी आँखोंसे अविरल अश्रु-धारा बह रही थी। उस अत्यन्त चपल बालिकाका यह रूप देखकर मैं चकित रह गयी कि जो लड़की क्षणभरके लिये भी शान्त नहीं बैठ सकती और हमेशा अपने समवयस्कोंके साथ लड़ती-झगड़ती रहती है, उसीके हृदयमें कितना दर्द, कितनी समवेदना, कितनी सहानुभूति और ईश्वरके प्रति कितनी अपार श्रद्धा और अगाध विश्वास है। उसने मुझसे भी कहा अपनी प्रार्थनामें सम्मिलित होनेके लिये। हमारे परिवारमें भजन-पूजन बहुत कम किया जाता है; किंतु उसके अनुरोधको मैं भी अस्वीकार न कर सकी।

कुछ देर बाद समझा-बुझाकर मैंने दोनों बालिकाओं-को सो जानेके लिये राजी कर लिया। दोनों बालिकाएँ यह विश्वास अपने हृदयमें सँजोये कि 'भगवान्ने अवश्य उनकी प्रार्थना सुन ली है,' सो गयीं।

दूसरे दिन यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वे खोये हुए सम्बन्धी रात्रिके आठ बजे अपने घर स्वयं ही लौट आये थे। अर्धचेतनाकी अवस्थामें उन्होंने घरमें प्रवेश किया और आते ही मूर्छित होकर गिर पड़े। कुछ समय बाद चेतना लौटनेपर उन्होंने बतलाया कि वे तो कभी न लौटनेका निश्चय कर चुके थे; किंतु फिर भी वे कैसे घर आ गये, यह उन्हें स्वयं भी ज्ञात नहीं था।

इस घटनाने मुझे यह सोचनेको बाध्य कर दिया कि आखिर वह कौन-सी अदृश्य शक्ति थी, जो उन्हें वहाँ खींच लायी थी, किसके संकेतोंपर चलकर वे उस अर्धचेतनावस्थामें भी घर लौट आये थे। मेरा विश्वास है कि उस विश्वनियन्ताने सचमुच इन अबोध बालिकाओंकी सरल, निश्छल एवं करुणासे ओत-प्रोत पुकार सुन ली थी। —[illegible]

(५)

अद्भुत दानी

बहुत समय बीत गया, किंतु कच्छ—सौराष्ट्रके दानवीर सेठ जगडूसाहकी दान-प्रणाली आज भी प्रेरणादायिनी और अमर बनी हुई है। उस समय एक बार अकाल पड़ा। पशु-पक्षियोंका बड़ी संख्यामें विनाश हुआ। हजारों-हजारों मानव अन्नके दाने-दानेके लिये परीशान थे। नित्य ही मानवसंहार करता हुआ कराल काल मानो अट्टहास कर रहा था।

जगत्सेठका हृदय इस अकालग्रस्त मानवों एवं प्राणियोंकी पीड़ाको देख न सका। उसने अनेक अन्न-सत्र खोल दिये। कच्छ और सौराष्ट्रका मानव-प्रवाह उस अन्न-सत्रोंकी ओर बहने लगा। विना किसी भेद-भावके समागत सभी नर-नारियोंको भरपेट भोजन मिलने लगा।

परंतु दुष्कालका विकराल प्रभाव सारे गुजरातमें फैल चुका था। अतः सेठ जगडूसाहने एक दानशाला खोल दी और स्वयं अपने हाथसे दान देने लगे। जगडूसाहको अनुभव हुआ कि प्रतिष्ठित व्यक्तियोंको भी अन्नके अभावने लाचार बना दिया है और वे लोग सामने आकर हाथ फैलानेमें लज्जाका अनुभव कर रहे हैं। अतः उन्होंने अपनी दानशालामें एक पर्दा लगा दिया। उस पर्देके पीछे वे स्वयं बैठकर दान देने लगे। दान लेनेवाले लोग सिर्फ पर्देमें अपना एक हाथ लंबा करके दान लिया करते थे।

सेठ जगडूसाह पर्देमें आये हुए हाथको देखकर पहचान लेते थे कि इसको कितने दानकी आवश्यकता है। हाथके दर्शनमात्रसे उसकी स्थितिका अंदाजा वे लगा सकते थे। मैं किसको दे रहा हूँ और अमुकको कितना दिया जा रहा है, उसकी वे लेशमात्र भी चिन्ता नहीं करते थे। इस प्रकार दानकी गङ्गाका प्रवाह सारे गुजरातको पावन करता रहा।

इस दानकी सुवास दूर-दूरतक फैल गयी। उस समयके पाटल (गुजरात) के राजा वीसलदेवके कानोंतक यह कीर्तिगाथा जा पहुँची। राजा वीसलदेवने भी अपनी प्रजाके लिये राज्यकी ओरसे अन्नसत्र खोले थे, मगर इस भयानक दुष्कालसे पार पाना कठिन था। राजाने जगडूसाहके उदार और निःस्पृह दानकी प्रशंसा सुनी और यह भी सुना कि 'जगडूसाह स्वयं अपनी दानशालामें बैठकर याचकको विना पूछे ही उसके हाथको ही देखकर योग्य दान देते हैं तथा सभी यथायोग्य दान लेकर संतुष्ट होकर वहाँसे लौटते हैं। कोई भी याचक खाली हाथ लौटता नहीं।' राजाके मनमें इस कौतुकको देखनेकी इच्छा हो गयी। राजाने भिक्षुकका वेष धारण किया और दानशालामें जाकर पर्देके पीछेसे अपना हाथ लंबा किया। हाथको देखकर जगडूसाहने जान लिया कि यह किसी प्रतापशाली पुरुषका हाथ है। अतः उसने अपनी रत्नजटित अँगूठी निकालकर उस हाथमें रख दी।

मुद्रिकाके बहुमूल्य रत्नको देखकर महाराज वीसलदेव आश्चर्यचकित हो गये और उन्होंने अपना दूसरा हाथ भी लंबा किया। जगडूसाहने दूसरी बहुमूल्य मुद्रिका उस हाथमें रख दी। दोनों अँगूठियाँ लेकर राजा अपने राजमहलमें लौट आये।

दूसरे दिन राजाने एक खास अधिकारीको भेजकर जगडूसाहको राजमहलमें आनेका सप्रेम आमन्त्रण दिया। जगडूसाह राजमहलमें पधारे। स्वागत-सम्मानके बाद राजाने उनसे पूछा—'साहजी! मैंने सुना है कि आप पर्देके पीछे बैठकर याचकके हाथका परीक्षण करके दान देते हैं। आप याचकको विना देखे और विना पूछे ही दान देते हैं, क्या यह सत्य है?'

'जी हाँ, महाराज!'—जगडूसाहके प्रत्युत्तरमें नम्रभाव था। वे बोले—'मैं याचकोंके हाथको देखकर अंदाजा लगा सकता हूँ कि इस हाथको कितने धनकी आवश्यकता है।'

—'तो क्या आप सामुद्रिकशास्त्रके ज्ञाता हैं?'

'नहीं, महाराज!'—जगडूसाह बोले—'हाथकी रक्तिमा और कोमलतासे मैं जान लेता हूँ कि यह अमीर होते हुए भी परिस्थितियोंसे विवश होकर दान लेने आया है। उन्हें मैं सोच-समझकर अधिक दान देता हूँ जिससे उन्हें फिर ऐसी लाचारीकी स्थितिमें परीशान न होना पड़े। इस तरह योग्यायोग्यका निर्णय करके रुपयेके पात्रको रुपया देकर तथा अधिक सुपात्रको सुवर्ण-मुद्रा देकर संतुष्ट करता हूँ।'

राजाने रत्नजटित दोनों अँगूठियाँ निकालीं और साहजीको बतलाकर प्रश्न किया—'तो आपने ये दोनों अँगूठियाँ लेनेवाले हाथको क्या समझकर दीं?'

'मैंने आपके हाथको पहचान लिया था, महाराज!' साहजी बोले—'और मैंने यह भी सोच लिया था कि राज्यके संकटकालमें प्रजाका सारा धन राजस्व होता है। जो कार्य मेरे द्वारा होता है, वही कार्य यदि आपके द्वारा भी होता रहे तो उससे अधिक आनन्द और क्या हो सकता है?'

महाराजने कर्तव्यका पाठ पढ़ लिया। जगडूसाहने सारे गुजरातमें एक सौ बारह अन्नसत्र खुलवाकर सुकाल होनेतक भूखोंको अन्नदान देकर अपना नाम अमर बना लिया।

'सुविचार'—अमृतलालजी राठौड़

'कल्याण'के कृपालु पाठकोंसे विनम्र क्षमा-प्रार्थना

परिस्थितिवश इस वर्षका विशेषाङ्क लगभग एक मासकी देरीसे १४ फरवरी १९७२ को प्रकाशित हुआ। ग्राहकोंकी मनःस्थिति समझते हुए तथा विशेषाङ्कके बादके इस अन्तरालको कम करनेकी दृष्टिसे फरवरी, मार्च—दो मासके अङ्क एक साथ गत महीनेमें २१ अप्रैलसे भेजे गये। यद्यपि दोनों अङ्कोंको भेजनेमें यथासाध्य सावधानी बरती गयी तथा यथाशक्य शीघ्र भेजनेकी चेष्टा भी की गयी, फिर भी भेजते-भेजते पर्याप्त विलम्ब हो ही गया और हो सकता है कुछ त्रुटियाँ भी रह गयी हों।

अब अप्रैलका अङ्क लगभग एक महीने विलम्बसे—मईमें प्रकाशित होकर ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें भेजा जा रहा है। आशा है इस अपरिहार्य विलम्बके लिये, जिसे हम चेष्टा करके भी दूर नहीं कर पाये, 'कल्याण'के प्रेमी पाठक हमें कृपापूर्वक क्षमा करेंगे। यदि किन्हीं महानुभावोंको फरवरी, मार्चके अङ्क किसी त्रुटिवश अभीतक न प्राप्त हुए हों तो पत्रद्वारा सूचितकर मँगा लेनेकी कृपा करेंगे।

विनीत—व्यवस्थापक-'कल्याण', गोरखपुर

श्रीऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू (राजस्थान)

(गीताप्रेसद्वारा संचालित सांस्कृतिक शिक्षा-संस्था)

इस संस्थाकी संस्थापना लगभग ५० वर्ष पूर्व ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रयत्नसे हुई थी, तबसे अबतक इसका कार्य चल रहा है।

इसमें—

प्रवेश-आयु—१. आठसे ग्यारह वर्षतकके द्विज—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ब्रह्मचारी लिये जाते हैं।
२. सोलह वर्षकी अवस्थातक ब्रह्मचारीको आश्रममें रक्खा जाता है।

पढ़ाई—संस्कृतवाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालयकी प्रथमा परीक्षातक।
अंग्रेजी—मैट्रिक (राजस्थान माध्यमिक शिक्षा-परिषद्), गीता १८ अध्याय उत्तमा परीक्षातक।
वेदरुद्री, दण्डक, कर्मकाण्ड आदि।

संध्या अनिवार्य—ब्रह्मचारियोंके लिये उपनयन-संस्कारयुक्त होकर त्रिकाल संध्या, गायत्री-जप तथा अग्निहोत्र करना एवं नियमित व्यायाम करना अनिवार्य है।

शुल्क—(१) ब्राह्मण-क्षत्रिय ब्रह्मचारीसे ३३) और वैश्य ब्रह्मचारीसे ३५) मासिक। कम-से-कम छः मासका शुल्क अग्रिम देना पड़ता है। इसमें शिक्षा, वस्त्र, औषध, भोजन, दूध आदि सबका व्यय शामिल है।

(२) प्रवेशकालमें अभिभावकोंको १००) एक सौ रुपये जमानतके रूपमें जमा करने पड़ते हैं, जो पूरी शिक्षा प्राप्त करके निकलनेपर लौटा दिये जाते हैं, किंतु विद्यार्थीको बीचमें निकालनेपर वापस नहीं किये जाते।

छः मासतक ब्रह्मचारीको अस्थायी भर्तीमें रक्खा जाता है। तदनन्तर योग्य सिद्ध होनेपर स्थायी भर्तीमें ले लिया जाता है। जो अपने सुयोग्य, स्वस्थ बालकको इस आश्रममें भर्ती कराना चाहें, वे निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करें। विद्यार्थी श्रावण शुक्ल १५ तदनुसार २४ अगस्त, १९७२ ई० तक ही भर्ती किये जायँगे।

—मन्त्री, ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू (राजस्थान)

श्रीकृष्णकी अनुपम रूप-माधुरी

[लावनी]

रूपरसिक, मोहन, मनोज-मन-हरन, सकल-गुन-गरबीले।
छैल-छबीले चपल-लोचन चकोर, चित चटकीले॥
रतन-जटित सिर मुकुट लटक रहि सिमिटि स्याम लट घुँघुरारी।
बाल बिहारी कन्हैयालाल, चतुर, तेरी बलिहारी॥
लोलक मोती कान कपोलन झलक बनी निरमल प्यारी।
ज्योति उज्यारी, हमैं हर बार दरस दै गिरिधारी॥
बिज्जु-छटा-सी दंतछटा, मुख देखि सरद-ससि सरमीले।
छैल-छबीले, चपल लोचन चकोर, चित चटकीले॥

मंद हँसन, मृदु बचन तोतले, बय किसोर भोली-भाली।
करत चोचले, अमोलक अधर पीक रच रहि लाली॥
फूल गुलाब चिबुक सुंदरता, रुचिर कंठ-छबि बनमाली।
कर सरोज में, बुंद मेहँदी अति अमंद है प्रतिपाली॥
फूल-छरी-सी नरम कमर, करधनी-सब्द हैं तुरसीले।
छैल-छबीले, चपल लोचन चकोर, चित चटकीले॥

अँगुली झीन जरीपट कछनी, स्यामल गात सुहात भले।
चाल निराली, चरन कोमल पंकज के पात भले॥
पग नूपुर झनकार, परम उत्तम जसुमति के तात भले।
संग सखन के जमुन-तट गौ-बछरान चरात भले॥
ब्रज-जुवतिन कौ प्रेम निरखि कर घर-घर माखन गटकीले।
छैल-छबीले, चपल लोचन चकोर, चित चटकीले॥

गावैं बाग-बिलास चरित हरि, सरद-रैन रस-रास करैं।
मुनिजन मोहैं, कृष्ण कंसादिक खल-दल नास करैं॥
गिरिधारी महाराज सदा श्रीब्रज बृंदाबन बास करैं।
हरिचरित्र कौं स्रवन सुनि-सुनि करि अति अभिलाष करैं॥
हाथ जोरि करि करै बीनती 'नारायन' दिल दरदीले।
छैल-छबीले चपल लोचन चकोर, चित चटकीले॥

—श्रीनारायणस्वामी